II Preamble – Shreemadbhagwad Geeta Chapter Five - The Yog of Renunciation II

In this chapter, Shree Krishna compares karm sanyās yog (the path of renunciation of actions) with karm yog (the path of work in devotion). He says: we can choose either of the two paths, as both lead to the same destination. However, he explains that the renunciation of actions is rather challenging and can only be performed flawlessly by those whose minds are adequately pure. Purification of the mind can be achieved only by working in devotion. Therefore, karm yog is a more appropriate path for the majority of humankind.

The karm yogis with a purified intellect perform their worldly duties without any attachment to its fruit. They dedicate all their works and its results to God. Just as a lotus leaf that floats on water does not get wet, the karm yogis also remain unaffected by sin. They are aware that the soul resides within the body that is like a city with nine gates. Therefore, they do not consider themselves to be the doer nor the enjoyer of their actions. Endowed with the vision of equality, they look equally upon a Brahmin, a cow, an elephant, a dog, and a dog-eater. Seated in the Absolute Truth, such truly learned people develop flawless qualities similar to God. The ignorant worldly people do not realize that the pleasures they strive to relish from their sense objects are the very source of their misery. However, the karm yogis do not get any joy from such worldly pleasures. Instead, they enjoy the bliss of God, who resides inside them.

The first chapter described the nature of Arjun's grief and created the setting for Shree Krishna to begin to relate spiritual knowledge to him. In the second chapter, Shree Krishna revealed to Arjun the science of the self and explained that since the soul is immortal, nobody would die in the war, and hence it was foolish to lament. He then reminded Arjun that his karm (social duty) as a warrior was to fight the war on the side of righteousness. But, since karm binds one to the fruits of actions, Shree Krishna encouraged Arjun to dedicate the fruits of his works to God. His actions would then become karm-yog, or "united with God through works."

In the third chapter, the Supreme Lord explained that performing one's duties is necessary because it helps to purify the mind. But He also said that a person who has already developed purity of mind is not obliged to perform any social duty (verse 3.17).

In the fourth chapter, the Lord explained the various kinds of sacrifices (works that can be done for the pleasure of God). He concluded by saying that sacrifice performed in knowledge is better than mechanical ritualistic sacrifice. He also said that all sacrifice ends in the knowledge of one's relationship with God. Finally, in verse 4.41, He introduced the principle of karm sanyās, in which ritualistic duties and social obligations are renounced and one engages in devotional service with the body, mind, and soul.

These instructions perplexed Arjun. He thought that karm sanyās (renunciation of works) and karm-yog (work in devotion) have opposite natures, and it is not possible to perform both simultaneously.

Lord Shree Krishna then describes karm sanyas yog or the path of renunciation. He says that the karm sanyasis control their mind, intellect, and senses by performing several austerities. By shutting out all their thoughts of external pleasures, they become free from fear, desire, and anger. And by including devotion to God in all their austerities, they attain long-lasting peace.

(Preamble- Courtsey – The songs of GOD - Swami Mukundananda)

।। पंचमोऽध्याय - प्रस्तावना ।। कर्म सन्यास योग ॥

कर्म में कर्मयोग एवम सांख्ययोग निष्ठा का वर्णन है, सांख्ययोग मूलतः सन्यास योग है, इसलिये इस अध्याय को **कर्म सन्यास योग** भी कहा गया है।

द्वितीय अध्याय में ज्ञान योग एवम कर्म योग के विवेचन में अर्जुन का संशय बना रहा कि दोनों में श्रेष्ठ कौन है? तृतीय एवम चतुर्थ अध्याय में कर्म एवम ज्ञान में अर्जुन को अर्जुन यह जान नही पा रहा था कि कर्म को किस प्रकार करे या ज्ञान एवम कर्म में क्या सहज है, उस को अपने आत्मस्वरूप का अज्ञान भी था एवम अपने अज्ञान के कारण उसे यह नही समझ पा रहा था कि उस का वास्तविक स्वरूप क्या है और परब्रह्म से उस का क्या सम्बन्ध है। निष्काम कर्म के साथ ज्ञान का बार बार कहना एवम ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ बताना किन्तु अपने सहज कर्म को करते रहने का ज्ञान या उपदेश देने से अर्जुन का संशय बढ़ गया कि दोनो में श्रेष्ठ कौन सा है।

पंचमोऽध्याय मुख्य तौर पर कर्म सन्यास का है जिस के 29 श्लोक है। **यदि समस्त कर्मो का पर्यवसान ज्ञान है, यदि ज्ञान से ही सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जाते है और यदि द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ ही श्रेष्ठ है, तो यह कहना कि धर्म युद्ध करना ही क्षत्रिय को श्रेयस्कर है या कर्मयोग का आश्रय कर युद्ध के लिये क्यों उठ खड़े होने को बोला जा रहा है? इस प्रश्न का गीता उत्तर देती है कि समस्त संदेहों को दूर कर मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता है, और मोक्ष के लिये कर्म आवश्यक न हो तो भी कभी न छूटने के कारण वे लोकसंग्रहार्थ आवश्यक है; इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनों के ही समुच्चय की नित्य अपेक्षा है।** अतः अर्जुन को इस पर भी शंका होती है कि यदि कर्म योग और सांख्य दोनों ही मार्ग शास्त्र में विहित है तो इन मे से अपनी इच्छा के अनुसार सांख्य मार्ग को स्वीकार कर कर्मो का त्याग करने में हानि ही क्या है? अतः यह निर्णय हो जाना चाहिये, कि इन दोनों मार्गो में श्रेष्ठ मार्ग कौन सा है। अर्जुन आप के स्थान पर आप की हर शंका का निवारण चाहता है। अतः गीता के अब पठन, मनन एवम क्रियावन की आवश्यकता है, क्योंकि भक्ति योग की भांति भागवत के श्रवण से स्वर्ग मिल सकता है किंतु गीता के पठन को आचरण में लाये बिना और स्वयं को तत्वदर्शन के योग बनाये बिना मुक्ती नही है।

प्रस्तुत अध्याय में कर्मयोगी की निर्लिप्तता एवम सांख्य योगी के अकर्तापन को बता कर दोनो की एकता को प्रतिपादित किया गया है। फिर भगवादर्पण बुद्धि से कर्म करने वाले की और कर्म प्रधान कर्मयोगी की प्रशंसा कर के कर्मयोगियों के कर्मो को आत्मशुद्धि में हेतु बताया गया है। फिर परब्रह्म परमात्मा में निरंतर अभिन्न भाव से स्थित रहने वाले महापुरषो की समदृष्टि और स्थिति का वर्णन कर के परमगति का प्राप्त होना बताया गया है। अंत मे सांख्य एवम कर्म योगी की अंतिम स्थिति और निर्वाण ब्रह्म को प्राप्त ज्ञानी पुरुष के लक्षण बता कर भगवान को सभी कर्मो का भोक्ता एवम सर्वलोकमहेश्वर बता कर अध्याय की समाप्ति की गई है।

वेद–उपनिषदों में ज्ञानियों के सर्व त्याग कर के सन्यास को ज्यादा महत्व दिया गया है, कर्मयोग भी सन्यासी यही मानते आ रहे है कि प्रारम्भ में चाहे सही हो, किन्तु अंत मे सभी त्याग कर सन्यास को धारण करना पड़ता है। गीता ने इस धारणा के विपरीत कर्म सन्यास योग में यही कहा है कि मोक्ष के लिये सन्यास ही एक मात्र मार्ग नही है, निष्काम कर्म योगी भी सांख्य योगी की भांति होता है एवम वह कर्म करते हुए भी, अकर्म करता है और सन्यासी की भांति होता है।

कर्म की अनिवार्यता को दृष्टिगत रखते हुए, ब्रह्मा द्वारा निमित्त सृष्टि यज्ञ चक्र को चलायमान रखने का दायित्व स्वयं परब्रह्म को भी करना पड़ता है, जिस के कारण वह दिव्य जन्म एवम दिव्य कर्म भी करता है। महृषि व्यास से ले कर शंकराचार्य तक पूर्ण ब्रह्म के ज्ञान के बाद कर्मो का त्याग नही किया गया था। राजा जनक स्वयं

निष्काम कर्मयोगी थे। वेद–उपनिषदों ने कभी भी कोई नकारात्मक संदेश कर्मयोग की, ज्ञान योग से तुलनात्मक नही दिया। अतः इस अध्याय के विवेचन में सन्यास को अधिक महत्व दे कर कुछ मीमांसकों ने जो विवेचना की है, वह भी विचारणीय है क्योंकि भगवान श्री कृष्ण ने ज्ञान को श्रेष्ठ बताते हुए चतुर्थ अध्याय के अंत मे अर्जुन को युद्ध ही करने को कहा था।

ज्ञान योग कठिन साधना है जिसे हर व्यक्ति द्वारा किया जाना संभव नही, कर्मयोग द्वारा सहज कर्म करते हुए निष्काम होना, फिर कर्म सन्यासी हो कर निर्लिप्त भाव से लोकसंग्रह हेतु कर्म करते रहना अपेक्षाकृत सरल एवम उत्तम मार्ग है। यही हम आगे समझेंगे, कि दोनो मार्ग में कोई प्रतिद्वंदता नही है, वरन दोनो ही एक दूसरे के पूरक है एवम मोक्ष को प्राप्त करने में सहायक है।

गीता को पुनरावलोकन करने पर हमे ज्ञात होगा कि प्रथम अध्याय में अर्जुन के मोह, संशय, भय और अहम का वर्णन है, द्वितीय अध्याय में सांख्य और कर्म, फिर कर्म योग और पूर्व अध्याय में ज्ञान कर्म योग को पढ़ा। अभी तक यही धारणा देखने में आई कि कर्म को भी करने के लिए कामना, आसक्ति, मोह, लोभ, अहम आदि को त्यागने का ज्ञान दिया गया है, जो सन्यास के लिए भी है। तो सन्यासी हो कर यदि न्यूनतम अर्थात नित्य कर्म को कोई करता रहे तो उसे अन्य कर्म की आवश्यकता ही क्यों है। परंतु सभी शास्त्रों के अनुसार जीव के संचित और प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते। सन्यासी को भी प्रारब्ध कर्म को भोगना ही है, उस के संचित कर्म वह ज्ञान से नष्ट कर पाएगा। क्रियमाण कर्म सन्यासी को करने नही है और कर्म योगी उसे कामना, आसक्ति और अहम के बिना करता है। अतः अर्जुन को संशय बना रहा कि सन्यास से क्रियमाण और संचित कर्म नष्ट हो सकते है और कर्म योग से भी यही कहा जा रहा है, तो दोनो में श्रेष्ठ कौन है। इस अध्याय में पूर्व में ज्ञान के साथ कर्म को हम ने समझा, अब कर्म को सन्यास के साथ भी समझाया जा रहा है। कर्म अर्थात क्रिया अर्थात प्रकृति द्वारा किया जाने वाला कार्य । किंतु जब जीव अज्ञान से यह समझ ले कि वह कर्ता या भोक्ता है, तो प्रकृति की क्रिया का स्वरूप बदल कर फल और कर्म बन्धन का हो जाता है। नदियों में जल का बहना, वायु का बहना या वनस्पति का उगना आदि में कोई कर्ता या भोक्ता नही है, किंतु अहम में जीव का क्षुद्र कार्य भी भोग और अहम का कारण बनता है। सन्यासी शरीर की क्रियाओं को जानता है, इसलिए वह कर्म से नही बंधता और कर्मयोगी भी ज्ञान से कर्म करते हुए अपने को कामना और आसक्ति से दूर रखता है, तो वह भी अकर्म ही करता है। वास्तव में कोई भी मार्ग बढ़ा या छोटा नही है। यह प्रत्येक व्यक्ति की क्षमता और पूर्व जन्म के फलों से तय होता है कि उस के कौनसा मार्ग सही है।

व्यवहार में देश के उच्चतम पद या विद्वत्ता के शिखर पर आसीन व्यक्ति का व्यक्तित्व और सन्यासी के व्यक्तित्व में अंतर नही होता। एक संन्यासी को भी डॉक्टर की आवश्यकता होती है तो डॉक्टर भी मन की शांति के लिए सन्यासी खोजता है।

इस विषय को अब आगे श्रद्धा, विश्वास, तत्परता एवम संयतेन्द्रीयता के साथ पढ़ते हुए मनन करते है।

।। हरि ॐ तत सत– प्रस्तावना 05 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.1॥

अर्जुन उवाच,
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥

"arjuna uvāca,
sannyāsaṁ karmaṇāṁ kṛṣṇa,
punar yogaṁ ca śaṁsasi..।
yac chreya etayor ekaṁ,
tan me brūhi su-niścitam"..।।

भावार्थ :

अर्जुन ने कहा – हे कृष्ण! कभी आप सन्यास– माध्यम (सर्वस्व का न्यास अर्थात ज्ञान योग) से कर्म करने की और कभी निष्काम माध्यम से कर्म करने (निष्काम कर्म–योग) की प्रशंसा करते हैं, इन दोनों में से एक जो आप के द्वारा निश्चित किया हुआ हो और जो परम–कल्याणकारी हो उसे मेरे लिये कहिए। (१)

Meaning:

Arjuna said:

First you speak about yoga, then you praise renunciation of action, O Krishna. Of the two, tell me which one, most assuredly, is beneficial for me.

Explanation:

As he was concluding the previous chapter, Shri Krishna spoke about the renunciation of action through yoga in the second-last shloka. He was quite clear that renunciation of action does not mean running away from action. It means renouncing the agency, or the sense of doership behind the action.

Now, Arjuna still retained a desire to run away from the war against his relatives. So even though Shri Krishna was quite clear that one cannot run away from action, Arjuna was still looking for a way to quit fighting the war. So he interpreted the word "renunciation" to mean what most people think renunciation means: going away to a remote ashram, becoming a monk, and then contemplating upon the eternal essence, casting aside any other worldly responsibilities.

This is the fifth of Arjun's sixteen questions. Shree Krishna praised both the renunciation of works and work with devotion. **Arjun is confused by these apparently equivocal instructions and wishes to understand which of the two is more auspicious for him.**

In the three chapters of the Gita, the 2nd, 3rd and 4th chapters, which have gone by, Krishna has primarily discussed two topics, one is regarding sadhana and the other is regarding life style. With regard to the sadhana, spiritual discipline, Krishna has made it very clear that everyone has to go through karma yoga sadhana and jnana yoga sadhana to attain liberation; and there is no choice with regard to these two sadhanas.

And we should know the reason also for that; between karma yoga and jnana yoga, there is no choice because, karma yoga is the means to come to jnana yoga; karma yoga is the sadanam, jnana yoga is the sadhya. Karma yoga is not a means for liberation; karma yoga is only a means to come to jnana yoga; and jnana yoga is the means to liberation.

With this interpretation in mind, he wanted to know whether renunciation of action was better than karmayoga. If that were the case, he could run away from the war to a place of contemplation, and gain self-realization following that path. He wanted an unambiguous answer from Shri Krishna because he had already asked this question at the beginning of the third chapter.

।। हिंदी समीक्षा ।।

कौटुम्बिक स्नेह के कारण अर्जुन के मन में युद्ध न करने का भाव पैदा हो गया था। इस के समर्थन में अर्जुन ने पहले अध्याय में कई तर्क और युक्तियाँ भी सामने रखीं। उन्होंने युद्ध करने को पाप बताया । वे युद्ध न कर के भिक्षा के अन्न से जीवन निर्वाह करने को श्रेष्ठ समझने लगे और उन्होंने निश्चय कर के भगवान् से स्पष्ट कह भी दिया कि मैं किसी भी स्थिति में युद्ध नहीं करूँगा । **प्रायः वक्ता के शब्दों का अर्थ श्रोता अपने विचार के अनुसार लगाया करते हैं।** स्वजनों को देख कर अर्जुन के हृदय में जो मोह पैदा हुआ उस के अनुसार उन्हें युद्ध रूप कर्म के त्याग की बात उचित प्रतीत होने लगी। अतः भगवान् के शब्दों को वे अपने विचार के अनुसार समझ रहे हैं कि भगवान् कर्मों का स्वरूप से त्याग कर के प्रचलित प्रणाली के अनुसार तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की ही प्रशंसा कर रहे हैं।

ज्ञान को प्राप्त करते समय अक्सर जो शिष्य, जिज्ञासु या प्रश्नकर्ता समक्ष आते है, वे प्रायः पूर्वाग्रह से ग्रसित होने के अनुसार बात या ज्ञान को सही नही समझ पाते। उन्हे अपना ही अवचेतन या चेतन मस्तिष्क से लिया निर्णय सही लगता है और वे ज्ञान के भावार्थ को उसी में समाहित करने की चेष्टा करते है। अर्जुन उत्तम गुणों का श्रोता होने से, अपनी जिज्ञासा या संशय को स्पष्ट करना चाहता है, इसलिए वह निरंतर प्रश्न करता है। कुछ ऐसा ही प्रश्न उस ने अध्याय तीन के शुरुवात में किया था।

अर्जुन बोले हे जनार्दन अगर आप कर्म से बुद्धि(ज्ञान) को श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर हे केशव मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हैं आप अपने मिले हुए वचनों से मेरी बुद्धि को मोहित सी कर रहे हैं। अतः आप निश्चय करके एक बात कहिये जिस से मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ। गीता श्लोक 3.1।। अर्जुन कर्म और ज्ञान के सामजस्य को नही समझ पाया, जब उसे ज्ञान कर्म योग समझाया तो वह कर्मयोग और सन्यास योग में तुलना करने लगा। उस उद्देश्य कैसे भी युद्ध से बचना था।

शाब्दिक अर्थ और भावार्थ अर्थ में अंतर समझ पाने के लिये शिक्षा के स्तर का विकास अनिवार्य है। किन्तु जब मन मे शंका रहे तो उस का निवारण कर लेना, एक अच्छे शिष्य का लक्षण है, उसे यह सोच कर नही बोलना की गुरु या सह श्रोतागण क्या विचार करेंगे, अत्यंत घातक है। अर्जुन में अच्छे शिष्य एवम श्रोता दोनो के गुण है, इसलिये वह बेहिचक अपनी शंका या संदेह का निवारण जिज्ञासु भाव से कर लेता है। किन्तु जब हम गीता या अपनी व्यावसायिक शिक्षा गहन अध्ययन एवम मनन से नही पढ़ते तो हम पढ़ कर भी पारंगत नही होते और अपने कार्य के आत्मविश्वास में कमजोर बने रहते है।

अर्जुन यह तो समझ गए कि कर्म को पूर्णतयः त्याग करना जब तक देह है, असंभव है। कर्म करते व्यक्ति को प्रकृति आसक्ति की ओर आकर्षित करती है अतः घर त्याग कर सन्यास लेने वाले व्यक्ति अपनी अंदर छुपी कामनाओं का शिकार हो ही जाते है। अतः कर्म सन्यास से कर्म योग वो भी ज्ञान युक्त अंधकार और प्रकाश के समान है। किंतु वो अभी भी संशय में कि जब निष्काम कर्म आगे चल कर ज्ञान में परिवर्तित हो जाते है और ज्ञान अग्नि जब सब कर्मो को भस्म कर देती है और व्यक्ति तत्वदर्शी हो परमात्मा से एकाकार हो जाता है तो उसे संशय है कि उसे क्यों कर्तव्य धर्म का पालन करते हुए निष्काम हो युद्ध करने को क्यों कहा जा रहा है।

केवल संन्यास करने मात्र से ही सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है इस वचन से ज्ञानसहित संन्यास को ही सिद्धि का साधन माना है साथ ही कर्मयोग का भी विधान किया है इसलिये ज्ञानरहित संन्यास कल्याण कारी है अथवा

कर्मयोग, इन दोनों की विशेषता जानने की इच्छा से अर्जुन बोला, "आप पहले तो शास्त्रोक्त बहुत प्रकार के अनुष्ठान रूप कर्मों का त्याग करने के लिये कहते हैं अर्थात् उपदेश करते हैं और फिर उन के अनुष्ठान की अवश्य कर्तव्यता रूप योग को भी बतलाते हैं। इसलिये मुझे यह शङ्का होती है कि इन में से कौन सा श्रेयस्कर है। कर्मों का अनुष्ठान करना कल्याणकर है अथवा उन का त्याग करना जो श्रेष्ठतर हो उसी का अनुष्ठान करना चाहिये इसलिये इन कर्म संन्यास और ज्ञान कर्मयोग में जो श्रेष्ठ हो अर्थात् जिस का अनुष्ठान करने से आप यह मानते हैं कि मुझे कल्याण की प्राप्ति होगी उस भलीभाँति निश्चय किये हुए एक ही अभिप्राय को अलग कर के कहिये क्योंकि एक पुरुषद्वारा एक साथ दोनोंका अनुष्ठान होना असम्भव है।"

मोक्ष के दो मार्ग प्रवृति एवम निवृति अर्थात कर्म योग एवम कर्म सन्यास, कर्मो का ज्ञान से सन्यास करने की बात, फिर पुनः युद्ध करने की बात अर्जुन को असमंजस में डाल देती है। जब कर्मो का सन्यास ही लेना है तो उस का युद्ध त्यागना क्यों सही नही है, फिर उसे युद्ध के क्यों तैयार किया जा रहा है। इस के भगवान का यह मत की साधनावस्था में ज्ञान प्राप्ति के लिये किये जाने वाले निष्काम कर्मो को ही ज्ञानी पुरुष आगे सिद्ध अवस्था मे लोक संग्रह के अर्थ मरण पर्यंत कर्तव्य समझ कर करता रहे। जब मोक्ष के दो मार्ग हो तो यह समझना आवश्यक है कि दोनों एक दूसरे के पूरक है, प्रतिद्वंदी नही।

गीता में अक्सर यह प्रश्न आता है कि ज्ञान की बात करते हुए, कृष्ण अर्जुन को अपने सगे संबंधियों, गुरु जनों और घर के बड़े लोगो को हत्या के लिए उसका रहे है, क्योंकि वे उसे युद्ध करने को कहते है। जबकि कृष्ण उसे अपने कर्तव्य कर्म को ज्ञान और सन्यास के साथ पूर्ण करने को कह रहे है। उन के लिए भी यह और पूर्व का अध्याय महत्वपूर्ण है क्योंकि जब दृष्टि कामना, आसक्ति, मोह और अहम की होगी तो कर्तव्य कर्म में फल या परिणाम को देखेंगे और यदि दृष्टि सत में निष्काम और निर्लिप्त भाव में होगी, तो व्यक्ति समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार जो भी कर्तव्य कर्म होगा, उसे पूर्ण करेगा। इसे ही हमे समझना है कि कर्तव्य कर्म क्या है?

इसलिये वो प्रश्न करता है कि हे कृष्ण! आप कर्म सन्यास की और फिर कर्मयोग की प्रशंसा करते है, इन दोनों में जो भी श्रेय हो वह मुझे निश्चित रूप से कहिए।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.01।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.2॥

श्रीभगवानुवाच,
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

"śrī-bhagavān uvāca,
sannyāsaḥ karma-yogaś ca,
niḥśreyasa-karāv ubhau..।
tayos tu karma-sannyāsāt,
karma-yogo viśiṣyate"..।।

भावार्थ :

श्री भगवान ने कहा – सन्यास माध्यम से किया जाने वाला कर्म (सांख्य–योग) और निष्काम माध्यम से किया जाने वाला कर्म (कर्म–योग), ये दोनों ही परमश्रेय को दिलाने वाला है परन्तु सांख्य–योग की अपेक्षा निष्काम कर्म–योग श्रेष्ठ है। (२)

Meaning:

Shree Bhagavaan said:

Both renunciation of action and the yoga of action confer ultimate bliss. But, between the two, the yoga of action is superior than renunciation of action.

Explanation:

Shri Krishna, the teacher, replies to Arjuna's question by saying that for someone with Arjuna's proclivity, karma yoga or the yoga of action is a better path than karma sannyaasa or the renunciation of action.

In this verse, Shree Krishna compares karm sanyas and karm-yog. It is a very deep verse; so let's understand it one word at a time.

A karm yogi is one who does both, spiritual and social, duties. Social duties are done with the body while the mind is attached to God. Jagadguru Kripaluji Maharaj states:

"Dear one! Think always that all your actions are being observed by God and Guru." This is the sadhana of karm-yog, by which we gradually elevate ourselves from bodily consciousness to spiritual consciousness.

Karm sanyas is for elevated souls, who have already risen beyond the bodily platform. A karm sanyasi is one who discards social duties due to complete absorption in God, and engages entirely in the performance of spiritual duties (devotional service to God). This sentiment of karm sanyas was nicely expressed by Lakshman, when Lord Ram asked him to fulfill his worldly duties:

Lakshman said to Ram, "You are my Master, Father, Mother, Friend, and everything. I will only fulfill my duty toward You with all my might. So please do not tell me about any of my bodily duties."

By making this statement, Shri Krishna reiterates the teaching imparted to Arjuna in the beginning of the second chapter, when Arjuna had asked a similar question. Shri Krishna throughout the Gita has stressed that we can attain self- realization while staying in the world and performing our duties. Like Arjuna, we often get tempted to renounce the world, especially when we are going through a tough time in our life. But as we have seen earlier, if we retreat from the world but have not fully addressed our ego and our selfish desires, we will still be thinking about the material world in the confines of the cave or the ashram we have retreated into.

Therefore, having taken into account Arjuna's mental make-up, knowing fully well that like us, Arjuna still had a lot of desires, Shri Krishna deemed that karma yoga was the right path for Arjuna, and that he was not well- suited to becoming a monk.

However, in this verse, Shree Krishna extols karm-yog beyond karm sanyas and recommends it to Arjun as the preferred path. This is because karm sanyasis are exposed to a danger. If, having renounced their duties they cannot absorb their mind in God, they are left neither here nor there. In India, there are tens of thousands of such sadhus, who felt they were detached and thus, renounced the world, but their mind was not yet attached to God. Consequently, they could not experience the divine bliss of the spiritual path. And so, although wearing the saffron clothes of mendicants, they indulge in grossly sinful activities such as smoking opium. Only the ignorant mistake their sloth as detachment from the world.

Then there is second part of teaching also with regard to the lifestyle; because a person can lead two types of lifestyles; one is life of activity in society; and the other is life of seclusion; withdrawal; pravṛtti or nivṛttiḥ; life of work or life of withdrawal. Life in society or life in seclusion. So life of activity is called grihastha aśrama; and life of withdrawal is called sanyasa aśrama; thus there are two aśramas open to every human being; in fact, in the olden days, after gurukula vasa for 15-20 years, for every individual both aśramas are open, one can either get married and take to grihastha aśrama or one can take to sanyāsa and take to a life of seclusion.

So, what is Krishna is saying: Take to any aśrama, but go through svadharma. And following svadharma is called karma yoga and by following svadharma what will happen, you will smoothly come to jnana yoga; and once you are ready for jnana yoga; Krishna says both grihastha and sanyasi should come to jnana yōga, which is vēdānta vicāraḥ; self-enquiry.

So, first Krishna points out that both aśramas are equally good; because as far as plus and minus points are concerned, every aśrama has got its own plus and minuses.

So, if both are equal, then you cannot talk about inferiority or superiority, but still one thing is possible; what is that? With regard to a particular person and the mental makeup, we can say for this particular person this āśrama is safer; for the other particular person, this āśrama is more conducive; like asking whether science group is better, economic group or biology group is better or home science is better or nutrition is better; all sciences are equally good; but we can ask the question for me, which is better; for some people mathematics, will not come at any cost; for others history; or some other thing, literature or something.

When he says better choice, not better choice for all; for majority of the people and that is why we say Gita is meant for the general public. Whereas the upanisads always addresses the mature people and therefore you will find upanishad always glorify sanyasa.

Now, does the follower of karma yoga attain the same result that the follower of renunciation attains? He addressed this point in the upcoming shlokas.

।। हिंदी समीक्षा ।।

द्वितीय से चतुर्थ अध्याय तक निष्काम कर्मयोग एवम सांख्य योग में ज्ञान के महत्व को देख कर अर्जुन के मन मे इच्छा सन्यास की ही थी, इसलिये वह प्रश्न कर के यह भी स्पष्ट कर लेना चाहता है कि कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है।

जीव ब्रह्म का अंश है और प्रकृति के संयोग से वह सृष्टि की रचना का हिस्सा बनता है। अतः मूल उद्देश्य उसे ब्रह्म में ही विलीन होना है। प्रकृति क्रियाशील है अतः वह अपनी क्रिया द्वारा जीव में कर्ता भाव एवम भोक्ता भाव

पैदा करती है। जिस से जीव अहम, कामना और आसक्ति से कर्म के बन्धन में फस कर जन्म– मरण के चक्कर को भोगता है। कर्ता भाव से मुक्त हो कर साधना करना सांख्य अर्थात सन्यास है, जिस में जीव अपने को प्रकृति से अलग मानते हुए उस की प्रत्येक क्रिया को दृष्टा भाव से देखता है, उस के कारण उस के कर्म छूटने लगते है किंतु यह कठिन प्रक्रिया है और सभी के लिये सम्भव नही। मैं हूँ को नकार कर मैं नही हूँ, समझ कर क्रिया करना सब के बस का नही। कर्मयोग में कर्ता कर्म तो करता है किंतु उस के भोक्तत्व भाव को त्यागता है, वह शनैः शनैः निष्काम हो कर कर्म करता है, यह अपेक्षाकृत सरल है। जब कर्ता भाव या भोक्ता भाव समाप्त हो जाता है तो ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिये दोनो मार्ग पृथक पृथक अवश्य है किंतु एक ही बिंदु पर आ कर मिलते है।

प्रवृति और निवृति मोक्ष के दोनों मार्ग में वेद एवम उपनिषदों में निवृति अर्थात सन्यास मार्ग को ज्यादा स्थान मिला है, किन्तु कर्म योग को नकारा नही गया है। दोनो ही मार्ग से ज्ञान की प्राप्ति होती है किंतु कुछ मीमांसक ज्ञान को सीधे सन्यास से जोड़ कर कर्मयोग को लघु करते है क्योंकि उन के अनुसार कर्मयोगी को ज्ञान प्राप्त करना ही पड़ता है, ज्ञान सब से श्रेष्ठ मार्ग है। अतः सांख्य योग हो या निष्काम कर्मयोग दोनो पृथक पृथक एक दूसरे के पूरक मार्ग है जो ज्ञान की ओर बढ़ते है।क्या श्रेष्ठ है, इस का निर्धाहरण व्यक्ति विशेष की प्रवृति, गुण, धर्म पर निर्भर है। भगवान श्री कृष्ण के अनुसार सृष्टि यज्ञ का कार्य भी होता रहे एवम जन सामान्य ज्ञान भी अधिकारी भी रहे, इसलिये कठिन एवम जटिल मार्ग की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग सरल एवम व्यवहारिक होने से श्रेष्ठ मार्ग है।

कर्मयोग की साधना प्रत्येक परिस्थिति में और प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा की जा सकती है चाहे वह किसी भी वर्ण आश्रम सम्प्रदाय आदि का क्यों न हो। परन्तु अर्जुन जिस संन्यासयोग की बात कहते हैं वह एक विशेष परिस्थिति में किया जा सकता है क्योंकि तत्त्वज्ञ महापुरुष का मिलना उन में अपनी श्रद्धा होना और उन के पास जाकर निवास करना ऐसी परिस्थिति हरेक मनुष्य को प्राप्त होनी सम्भव नहीं है। अतः प्रचलित प्रणाली के सांख्य योग का साधन एक विशेष परिस्थिति में ही साध्य है जबकि कर्मयोग का साधन प्रत्येक परिस्थिति में और प्रत्येक व्यक्ति के लिये विशेष तौर पर गृहस्थ के लिये भी, साध्य है। इसलिये कर्मयोग को श्रेष्ठ कहा गया है। प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना कर्मयोग है। युद्ध जैसी घोर परिस्थिति में भी कर्मयोग का पालन किया जा सकता है। कर्मयोग का पालन करने में कोई भी मनुष्य किसी भी परिस्थिति में असमर्थ और पराधीन नहीं है क्योंकि कर्मयोग में कुछ भी पाने की इच्छा का त्याग होता है। कुछ न कुछ पाने की इच्छा रहने से ही कर्तव्य कर्म करने में असमर्थता और पराधीनता का अनुभव होता है। आज के युग मे घर गृहस्थी, व्यापार– व्यवसाय एवम समाज देश को देखते हुए निष्काम कर्मयोगी होना अपेक्षकृत अधिक सुगम मार्ग है।

कर्तृत्व भोक्तृत्व ही संसार है। सांख्ययोगी और कर्मयोगी इन दोनों को ही संसार से सम्बन्ध विच्छेद करना है इसलिये दोनों ही साधकों को कर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दोनों को मिटाने की आवश्यकता है। तीव्र वैराग्य और तीक्ष्ण बुद्धि होने से सांख्ययोगी कर्तृत्व को मिटाता है। उतना तीव्र वैराग्य और तीक्ष्ण बुद्धि न होने से कर्मयोगी दूसरों के हित के लिये ही सब कर्म करके भोक्तृत्व को मिटाता है। इस प्रकार सांख्ययोगी कर्तृत्व का त्याग कर के संसार से मुक्त होता है और कर्मयोगी भोक्तृत्व का अर्थात् कुछ पाने की इच्छा का त्याग कर के मुक्त होता है। यह नियम है कि कर्तृत्व का त्याग करने से भोक्तृत्व का त्याग और भोक्तृत्व का त्याग करने से कर्तृत्व का त्याग स्वतः हो जाता है। कुछ न कुछ पाने की इच्छा से ही कर्तृत्व होता है। जिस कर्म से अपने लिये किसी प्रकार के भी सुखभोग की इच्छा नहीं है वह क्रियामात्र है कर्म नहीं। जैसे यन्त्र में कर्तृत्व नहीं रहता ऐसे ही कर्मयोगी में कर्तृत्व नहीं रहता।

गीता का यह कथन नही है, कि उपनिषदों में वर्णित यह सन्यास मार्ग मोक्षप्रद नही है; किन्तु यद्यपि कर्म योग और संन्यास, दोनों मार्ग एक से ही मोक्षप्रद है। तथापि मोक्ष की दृष्टि से दोनों का फल एक होने पर भी, जगत के

व्यवहार का विचार करने पर गीता का यह निश्चित मत है, कि ज्ञान के पश्चात भी निष्काम बुद्धि से कर्म करते रहने का मार्ग ही अधिक प्रशस्त या श्रेष्ठ है।

कर्म सन्यास में ज्ञानी पुरुष कर्मो को त्याग कर बुद्धि एवम योग से तत्वदर्शन को प्राप्त करने की चेष्ठा करता है। किंतु कर्म योग में साधना अवस्था मे ज्ञान प्राप्ति के लिए किए जाने वाले निष्काम कर्मो को ही, ज्ञानी पुरुष आगे सिद्धावस्था में भी लोक संग्रह के अर्थ मरणपर्यन्त कर्तव्य समझ कर करता रहता है। अतः कर्म सन्यास में ज्ञानी पुरुष की योग्यता एवम क्षमता का सृष्टि यज्ञ चक्र में योगदान न होने से सृष्टि यज्ञ च्रक उस की योग्यता एवम क्षमता से वंचित रह जाता है।

अतः कर्म योग या कर्म सन्यास में श्रेष्ठ का चुनाव व्यक्ति विशेष के स्वधर्म के आधार पर होता है। जब जीव संसार में रह कर गृहस्थी और अपने सामाजिक दायित्व से बंध कर कार्य करता है तो कामना और आसक्ति का भाव भोक्ता भाव से रहता ही है। इसलिए गीता एक व्यवहारिक शास्त्र है जो कर्म योगी की मुक्ति का मार्ग कर्म योग से माध्यम से सरलता से जोड़ता है, एवम व्यक्ति शनैः शनैः ज्ञान को प्राप्त करते हुए मुक्त होता है। वेदों और शास्त्रों में कर्म सन्यास को श्रेष्ठ कहा गया है किंतु एक सामाजिक प्राणी के लिए वह मार्ग कठिन और असाध्य भी है, क्योंकि कामना और आसक्ति के साथ कर्म को त्यागना, जिस में कर्ता भाव ही नही रहे, सभी के संभव नही।

अतः कर्म सन्यास एवम कर्म योग दोनों ही एक ही मार्ग तत्वदर्शन की ओर जाते है, तो भी भगवान का यह मत है अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है। सन्यास मार्ग पर चलने वाले योगी के क्या गुण होते है, हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.02।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.3॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

'jñeyaḥ sa nitya-sannyāsī,
yo na dveṣṭi na kāṅkṣati..।
nirdvandvo hi mahā-bāho,
sukhaṁ bandhāt pramucyate"..।।

भावार्थ :

हे महाबाहु! जो मनुष्य न तो किसी से घृणा करता है और न ही किसी की इच्छा करता है, वह सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि ऐसा मनुष्य राग–द्वेष आदि सभी द्वन्द्वों को त्याग कर सुख–पूर्वक संसार–बंधन से मुक्त हो जाता है। (३)

Meaning:

He who does not hate anything, nor expects anything, know him to be an eternal renouncer. For one who is free from duality, O mighty-armed, he happily casts off bondage.

Explanation:

During the time of the Mahabhaarata war, and even now, there existed a fixed ideal of what it means to become a renouncer, which was that one runs away from the world to some remote place. Shri Krishna needed to change that ideal completely. So he defines what it means to be a renouncer or sannyaasi in this shloka. **A renouncer is one who completely gives up his ego, not external objects and situations.**

our hearts are rough and unfinished because of endless lifetimes of attachment in the world. If we wish to become internally beautiful, we must be willing to tolerate pain and let the world do its job of purifying us. So karm yogis work with devotion, are equipoised in the results, and practice attaching their mind to God.

In that regard, Shri Krishna says that if we have three qualities: freedom from hatred, expectation and duality, that person is a true renouncer. Firstly, if something is obstacle to happiness, or someone is giving us sorrow, we generate hatred for that person or object. Secondly, if we always keep thinking that we will become happy in the future, we generate expectations, taking consciousness away from the present and into the future. Finally, if we only get attracted to certain aspects of our existence, the other aspects will torture us and bind us. This is what is meant by duality.

So therefore, one who has become free from these 3 qualities has truly renounced the material world, even if he continues to perform his duties. This is a high standard indeed.

You should remember that all spiritual sadhanas are broadly classified into two; one is jnana yoga, which is the pursuit of jnanam, and the second is the karma yoga, which is meant for preparing the mind for knowledge and all the sadhanas that we do to prepare the mind will come under karma yoga only; all forms of meditations we do to refine and sharpen the mind; so all forms of sadhanas, including aṣṭaṇga yoga and varieties of meditations, they also come under karma yoga only. Even the word bhakthi yoga, depending upon the meaning of Bhakthi, will come under one of these two yogas only. When bhakthi yoga is understood as pooja, or any type of saguna dhyanam, all that type of bhakthi yoga will come under karma yoga only.

Therefore, Krishna does not want you to get rid of likes and dislikes. Krishna says do not be a slave of your likes and dislikes. If you able to fulfill them, wonderful and if you are not able to fulfill them also; you should know how to face them; so mastery of likes and dislikes is converting them into non- binding desires.

Having clarified the definition of snanyaasi, Shri Krishna compares a sannyaasi to a karmayogi in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

कर्तृत्व और भोक्तृत्व इन दोनों भाव से मुक्त साधक जिस के अंदर कोई राग एवम द्वेष नही है एवम जिस ने अहंकार एवम मोह पर विजय प्राप्त कर ली है वो ही नित्य सन्यासी होता है। ऐसा नित्य सन्यासी निःद्वन्द एवम निष्काम होने के कारण कर्म बंधन से मुक्त होता है।

यह सब दिखने एवम पढ़ने में सरल किन्तु आचरण में अत्यंत दुर्गम गुण है। अतः जब तक हृदय में त्याग एवम सेवा भाव न हो तो यह संभव नही। ज्ञानयोग की दृष्टि से किसी वस्तु को माया मात्र समझ कर ऐसे ही उसका त्याग कर देना कठिन पड़ता है परन्तु वही वस्तु किसी के काम आती हुई दिखायी दे तो उसका त्याग करना सुगम पड़ता है। जैसे हमारे पास कम्बल पड़े हैं तो उन कम्बलों को दूसरों के काम में आते जान कर उन का त्याग करना अर्थात् उन से अपना राग हटाना साधारण बात है परन्तु (यदि तीव्र वैराग्य न हो तो) उन्हीं कम्बलों को विचारद्वारा अनित्य क्षणभङ्गुर स्वप्न के मायामय पदार्थ समझ कर ऐसे ही छोड़कर चल देना कठिन है। दूसरी बात माया मात्र समझ कर त्याग करने में (यदि तेजी का वैराग्य न हो तो) जिन वस्तुओं में हमारी सुख बुद्धि नहीं है उन खराब वस्तुओं का त्याग तो सुगमता से हो जाता है पर जिन में हमारी सुखबुद्धि है उन अच्छी वस्तुओं का त्याग कठिनता से होता है। परन्तु दूसरे के काम आती देखकर जिन वस्तुओं में हमारी सुखबुद्धि है उन वस्तुओं का त्याग सुगमता से हो जाता है जैसे भोजन के समय थाली में से रोटी निकालनी पड़े तो ठंडी बासी और रूखी रोटी ही निकालेंगे। परन्तु यदि वही रोटी किसी दूसरे को देनी हो तो अच्छी रोटी ही निकालेंगे खराब नहीं। इसलिये कर्मयोग की प्रणाली से राग को मिटाये बिना सांख्य योग का साधन होना बहुत कठिन है। विचार द्वारा पदार्थों की सत्ता न मानते हुए भी पदार्थों में स्वाभाविक राग रहने के कारण भोगों में फँस कर पतन तक होने की सम्भावना रहती है।

राग भी ऐसे ही जकड़ लेता है और राग के कारण हम वो काम भी करते है जिसे को हम समझते है कि इन का हमारे लिये कोई उपयोग नही। जैसे सिनेमा, पार्टी, मधुमेह के बावजूद मीठा खाना। सब से कठिन अपने अहम को समाप्त करना है। वेदो की रचना करने वाले उन ऋषि मुनि को कोई नही जानता जिन्होंने ने उन की रचना करते हुए अपने अहम को पहले जीता।

यहां यह चर्चा करना भी अनुचित नही होगा कि अपने अंदर इंद्रियाओ के नियंत्रण के अभाव में हम सन्यास साधक को पहचान नही पाते एवम ज्ञान की आशा एवम कामनाओं के वश में आ कर हम उन्हें भी सन्यासी मान लेते है जो प्रायः हमारे सामने गेरुवे वस्त्र पहने हुए होते है या शास्त्रों की बाते काफी प्रभाव शाली तरीके से करते है। नित्य सन्यासी क्योंकि ज्ञान को प्राप्त कर चुका होता है इसलिए उस के गुण उस के अंदर स्वतः ही होते है एवम उस को किसी नियंत्रण या इंद्रियाओ के दमन की आवश्यकता नही होती।

मुक्ति के दो मार्ग या साधना है, जिसे हम कर्म योग और कर्म सन्यास कह सकते है। दोनो ही साधना में ज्ञान का होना और त्याग का होना आवश्यक है। यहां त्याग अहम और भोक्ता भाव का है। यदि कर्म योगी राग और द्वेष को त्याग कर गृहस्थाश्रम में रहता है तो वह भी सन्यासी की भांति जीवन व्यतीत करता है। राजा जनक जब अपने गुरु से शिक्षा ले रहे थे तो उन के अनुचर में खबर दी कि आप के महल में आग लग गई है। वे तनिक भी विचलित नहीं हुए और अध्ययन जारी रखते है किंतु उन के गुरु को अपनी कुटिया की चिंता लग गई और वे उसे बचाने भागे। तब यही कहा गया कि जनक कर्मयोगी होते हुए भी राग और द्वेष से परे है, जब कि इन के गुरु सन्यासी होते हुए भी राग और द्वेष से मुक्त नही हो पाए। अतः अर्जुन यदि युद्ध भूमि छोड़ कर सन्यास भी ले कर जंगल चले जाते है तो भी मात्र वस्त्र धारण, वानप्रस्थ होने और भिक्षा पर अपना जीवन व्यतीत करने पर कोई सन्यासी नही होता। अतः अर्जुन भी सन्यास ले कर भी जंगल में भी अपने क्षत्रिय गुण से वहां के लोगो को दुष्ट व्यक्तियों से बचाने का कार्य करने लग जायेंगे।

राग और द्वेष का त्याग या छोड़ना एक बात और राग – द्वेष का न होना एक बात। समत्व भाव में सन्यासी होना या सन्यासी स्वरूप को ओढ़ लेना, सन्यास नही है। राग – द्वेष में वैराग्य अर्थात जिस के बारे हृदय तक कोई भाव किसी भी कारण न उपजे। किसी ने गाली दी, गुस्सा आया किंतु पी गए, यह राग द्वेष का नियंत्रण है, मुक्ति नही। राग – द्वेष से मुक्त होना है तो मीरा का चरित्र देखो, जिस ने राज परिवार छोड़ा भी और जहर भी ग्रहण किया।

वस्तुतः सन्यासी जिस ने सुख, दुख में सम भाव को धारण कर लिया है, उसे किसी भी व्यक्ति, वस्तु, कर्म या भोग में कोई राग, द्वेष, ईर्ष्या या घृणा नही है। वह किसी आकांक्षा को नही रखता। यदि ध्यान दे यह समभाव आदि गुण निष्काम कर्मयोगी के लिये भी पूर्व के अध्याय में बताये गए थे। इसलिये निष्काम कर्म योगी भी सन्यासी ही होता है, अंतर कर्म की प्रवृति या निवृति का है। सन्यासी कर्म को प्रकृति की प्रक्रिया समझ कर कर्तृत्व भाव से मुक्त हो कर करता है और कर्म योगी वही कार्य कर्तृत्व भाव मे भोक्तत्व से मुक्त हो कर करता है। दोनो ही अपने को कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव से मुक्त करने के लिये योग करते है। इसे आगे भगवान श्री कृष्ण स्पष्ट करते हुए क्या कहते है, पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.03।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.4॥

सांख्योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

"sāṅkhya-yogau pṛthag bālāḥ,
pravadanti na paṇḍitāḥ..।
ekam apy āsthitaḥ samyag,
ubhayor vindate phalam"..।।

भावार्थ :

अल्प–ज्ञानी मनुष्य ही "सांख्य–योग" और "निष्काम कर्म–योग" को अलग–अलग समझते है न कि पूर्ण विद्वान मनुष्य, क्योंकि दोनों में से एक में भी अच्छी प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फल–रूप परम–सिद्धि को प्राप्त होता है। (४)

Meaning:

Only children say that the yoga of knowledge and the yoga of action are different, wise people do not. One who is perfectly established in one, obtains the result of both.

Explanation:

Shri Krishna reiterates his message from third chapter in this shloka. He says that the path to attain self- realization is one, but it has two stages. In the first stage, the seeker performs actions per his svadharma, but focuses on checking and sublimating the ego while performing his actions. This stage is called karma yoga. When the seeker has exhausted the majority of his desires, he becomes ready for the next stage.

In the second stage, the seeker minimizes actions other than those performed for gaining knowledge through the guidance of a teacher. The second stage is possible only after the ego has been sublimated through renunciation. This stage is called karma sannyaasa.

Shri Krishna then goes on to say that only people who are ignorant of the connection between these two stages say that karma-sannyaasa and karmayoga are different paths. They also think that it is possible to bypass stage one and go straight to stage two. This ability to bypass stage one is only possible for a handful of advanced seekers in this world, seekers who have already sublimated their desires.

Here, Shree Krishna uses the word sānkhya to refer to karm sanyās, or the renunciation of actions with the cultivation of knowledge. It is important to understand here that renunciation is of two kinds: phalgu vairāgya and yukt vairāgya. Phalgu vairāgya is where people look upon the world as cumbersome and renounce it with the desire of getting rid of responsibilities and hardships. Such phalgu vairāgya is an escapist attitude and is unstable. The renunciation of such persons is motivated by the desire to run away from difficulties. When such persons encounter difficulties on the spiritual path, they become detached from there as well, and desire to run back to worldly life. Yukt vairāgya is where people see the whole world as the energy of God. They do not see what they possess as belonging to them, and do not wish to enjoy it for themselves. Instead, they are motivated by the desire to serve God with whatever He has given to them. Yukt vairāgya is stable and undeterred by difficulties.

Therefore, having known this, he urges us to become wise people and to not think of the path to self- realization as two different paths. If we become established in one stage, we will automatically get the result of self- realization that one gets from pursuing the other stage. In other words, we should follow the one path that we are qualified for, and follow it properly.

The most important portion is called Tatvamasi prakaraṇam; where the teaching of Tatvamasi comes; and do you know this teaching took place between who and who again father and son. The greatest teaching of Tattvamasi took place in grihastha āśrama; between father and son. So thus, the scriptures talk about the grihasthāśrama jñāni parampara, as well as sanyāsa āśrama jñāni parampara; that these two paramparas existed indicate that you can get jñānam in any of the āśramas.

The Puranas and Itihās relate the examples of great kings in Indian history, who, though externally discharging their kingly duties with diligence and living in royal opulence, were mentally completely absorbed in God-consciousness. Prahlad, Dhruv, Ambarish, Prithu, Vibheeshan, Yudhishthir, etc. were all such exemplary karm yogis. The Shreemad Bhagavatam states:

“One who accepts the objects of the senses, neither yearning for them nor running away from them, in the divine consciousness that everything is the energy of God and is to be used in His service, such a person is the highest devotee.”

How should a wise person look at these two stages? We will see in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जीव का मुख्य उद्देश्य मुक्ति यानि मोक्ष को प्राप्त करना है। अतः उस की ओर बढ़ने वाले विभिन्न मार्ग अंत के एक ही स्थान पर मिलते है और फिर आगे बढ़ते है।

द्वितीय अध्याय में सांख्य योग एवम कर्म योग के बारे में भगवान श्री कृष्ण ने बताया था। फिर तीसरे अध्याय में जब अर्जुन दोनों में कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है, यह जानने के लिये प्रश्न करता है तो हमे निष्काम कर्म, फिर चतुर्थ

अध्याय में ज्ञान कर्म सन्यास के बारे में बताया जाता है। अतः कर्म योगी जब निष्काम कर्म करते हुए अपनी कामनाओं को जीत लेता है तो उसे ज्ञान की आवश्यकता तत्वदर्शन को जानने एवम भोक्तत्व भाव से मुक्त होने के लिये आवश्यक है। जिस से वो कर्म बंधन से मुक्त हो कर लोकसंग्रह हेतु कार्य कर सके और मोक्ष को प्राप्त हो।

सांख्य योग में जीव कर्तृत्त्व भाव से मुक्त होने के सीधे ज्ञान की ओर बढ़ता है। यह अत्यंत कठिन कार्य है क्योंकि कर्तृत्त्व भाव को त्यागना एवम इस के साथ कामनाओं पर विजय बिना कर्म किये प्राप्त करना। क्योंकि कर्तृत्व अभिमान बनाये रख कर केवल कर्मो को त्याग कर बैठना कर्म सन्यास नही हो सकता, क्योंकि त्याग का अभिमान अहम रहने के कारण वह कर्म त्याग भी कर्म है और इस का फल भी मिलता है और यदि कर्तृत्व अभिमान रख कर फलाशा रहित हो कर कर्म निष्काम कर्म किया जाए तो भी कर्ता भाव अहम स्थित रहने के कारण कर्म का फल अवश्य मिलता है। अतः दोनों की मार्ग में कर्तृत्व अभिमान को त्याग करने के बिना तत्वज्ञान नही मिल सकता। कोई भी सन्यासी कर्म को पूर्णतयः त्याग नही सकता और कोई भी कर्म योगी ज्ञान के बिना निष्काम कर्म नही कर सकता। कर्तृत्त्व भाव से मुक्त सांख्य योग से सन्यासी भी उसी तत्वदर्शन को प्राप्त करता है जिस को कर्म योगी निष्काम भाव से कर्म करता हुआ ज्ञान कर्म सन्यास से प्राप्त करता है।

कर्म को त्याग कर ज्ञान को प्राप्त करना दुष्कर कार्य है अतः प्रायः इस मार्ग को जन सदाहरण अपना कर सफल नही होता। इसलिये भगवान श्री कृष्ण कर्मयोग मार्ग से मोक्ष को समर्थन करते है। सहज कर्म करते रहने से कामना का क्षय होने लगता है और व्यक्ति निष्काम होने लगता है। बहुत अधिक धन, पद, सम्मान या बल प्राप्त करने के बाद बुद्धिमान मनुष्य की कामना या आसक्ति मिटने लगती है और वह निष्काम हो लोकसंग्रह के कार्य करने लगता है।

कर्मयोग हो या कर्म सन्यास योग, दोनो ही मोक्ष के स्वतंत्र मार्ग है जो कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव को समाप्त करने के योगी पुरुष धारण करता है एवम जब वह कर्तृत्त्व एवम भोक्तत्व भाव से मुक्त होता है तो वह तत्वज्ञान की प्राप्ति अर्थात अपने ब्रह्म स्वरूप को देख पाता है। कर्मयोग में कामना और आसक्ति को त्याग कर कर्म करना तभी संभव है जब मनुष्य ज्ञान का मार्ग अपनाए। सांख्य में कर्म से अहम ही मुक्ति करते हुए अपने को कर्म से विरक्त रखना तभी संभव है जब मनुष्य ज्ञान का मार्ग अपनाए। दोनो मार्ग में विरक्ति तभी संभव है जब इसे ज्ञान के साथ किया जाए। यह ज्ञान विभाजित न हो कर दोनो मार्ग के लिए एक ही है। अतः यह कहना कि कर्म योग का मार्ग सांख्य योग से हो कर जाता है, बालक बुद्धि से ज्यादा नही है।

सांख्य अर्थात सन्यास तभी संभव है जब आसक्ति, कामना और अहम का त्याग हो। जीव प्रारब्ध और संचित कर्म ले कर जन्म लेता है। अतः प्रारब्ध को जीतने से प्रारब्ध को निष्काम भाव से भोगना आसान है, जिस से कर्म बिना फल के बंधन के पूर्ण होने लगते है और व्यक्ति तत्वदर्शन की ओर बढ़ने लगता है। अतः ज्ञान के बिना दोनो ही अधूरे है और कर्म योग ज्ञान के साथ अपेक्षाकृत अधिक व्यवहारिक है, क्योंकि यह कर्म के वेग के अनुसार प्रवाह में बह कर हो जाता है।

पुराण और इतिहास गवाह है कि कर्मयोग में अनेक युगपुरुष हुए, जिन्होंने समाज और राजधर्म को बखूबी से निभाया और अंत में सन्यास को धारण किया। कर्म करते हुए सन्यास को प्राप्त करने वाले अनेक ऋषि मुनि हुए, जो गृहस्थ थे। अनेक क्षत्रिय राजा प्रसिद्ध ऋषि बने, जिन्हे हम प्रहाद, विश्वामित्र, ध्रुव अमरीश, पृथु, विभीषण, युधिष्ठिर और जनक है। आज के युग में अरविंद घोष, रविन्द्र टैगोर, हनुमानप्रसाद जी पोद्दार, जहांगीर टाटा, बाल गंगाधर तिलक, डोंगरे महाराज, रामकृष्ण परमहंस, जयदयाल जी गोयनका आदि आदि अनेक हस्थियां कर्म योगियों ने कर्म सन्यास की स्थिति को प्राप्त किया।

केवल बालक अर्थात् अपरिपक्व विचार के लोग ही सांख्य और योग में विरोध देखते हैं जबकि बुद्धिमान पुरुष जो परमार्थ तत्वज्ञान रूप बुद्धि अर्थात पण्डा को धारण करता है, वह पंडित किसी एक मार्ग का अवलंबन दृढ़ता से करते हैं दोनों मार्गों के समान प्रभाव को जानते हैं। यदि साधक के रूप में हम कर्तृत्व अभिमान अथवा फलासक्ति को त्यागते हैं तो हमें एक ही लक्ष्य प्राप्त होता है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.04।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.5॥

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

"yat sāṅkhyaiḥ prāpyate sthānaṁ,
tad yogair api gamyate..।
ekaṁ sāṅkhyaṁ ca yogaṁ ca,
yaḥ paśyati sa paśyati"..।।

भावार्थ :

जो ज्ञान–योगियों द्वारा प्राप्त किया जाता है, वही निष्काम कर्म–योगियों को भी प्राप्त होता है, इसलिए जो मनुष्य सांख्य–योग और निष्काम कर्म–योग दोनों को फल की दृष्टि से एक देखता है, वही वास्तविक सत्य को देख पाता है। (५)

Meaning:

One who obtains the state of bliss through knowledge, also reaches that same state through yoga. He who sees knowledge and yoga as one, that person sees (correctly).

Explanation:

In this shloka, the words yoga and knowledge need further elaboration to get at the underlying meaning. In the context of this chapter, they mean yoga of action (karmayoga) and yoga of knowledge through renunciation (karma sannyaasa yoga) respectively. Having added this context, the shloka now reads as follows: one who obtains the state of bliss through the yoga of knowledge, also reaches that same state through the yoga of action. In the wise person's view, both of these are one. It is like two passengers boarding a train from different stations. Both reach the same destination.

In spiritual practice, the intention of the mind is what matters, not the external activities. One may be living in the holy land of Vrindavan, but if the mind contemplates on eating rasgullas in Kolkata, one will be deemed to be living in Kolkata. Conversely, if a person lives amidst the hubbub of Kolkata and keeps the mind absorbed in the divine land of Vrindavan, he will get the benefit of residing there. All the Vedic scriptures state that our level of consciousness is determined by the state of our mind:

"The mind is the cause of bondage, and the mind is the cause of liberation." Jagadguru Shree Kripaluji Maharaj states the same principle:

“Bondage and liberation depend upon the state of the mind. Whatever form of devotion you choose to do, keep the mind engaged in meditation upon God.”

Let us dig deeper to understand what is common between renunciation and action. Imagine that two people are striving for self-realization. One person performs karma yoga, but does not think carefully about how he performs his actions. Without proper thought and discrimination, his actions become selfish and his vaasanaas increase. Ultimately, he does not attain his goal.

The other person decides that he prefers renunciation. He goes to an ashram to lead the life of a monk. But even though he has renounced the material world, he keeps thinking about his life in the material world. He too, does not attain his goal, because his desires prevent him from properly absorbing his teacher's teachings.

In both cases, renunciation and action do not work because they are missing the key ingredient - knowledge. Unless one uses discrimination while performing action, or maintains the knowledge that I am not the doer prior to renunciation, the goal is not attained by either person. Therefore, Shri Krishna urges wise people to keep discrimination in the picture while considering either stage of the path.

Having reassured Arjuna that both stages yield the same outcome, Shri Krishna next addresses why karma yoga is more appropriate for Arjuna.

।। हिंदी समीक्षा ।।

यदि पिछले श्लोक को आगे पढ़े तो यह स्पष्ट है कि मार्ग सांख्य योग का हो या कर्म योग का मंजिल एक ही है। कर्म और सन्यास प्रकृति की क्रियाओं के समान ही है किंतु जब इस में ज्ञान का प्रवेश हो जाता है तो यह मुक्ति के प्रवृति और निवृति के मार्ग हो जाते है। अतः जो सांख्य योग एवम कर्म योग को जो एक देखता है वही यथार्त देखता है।

तात्विक योग प्राप्त होने पर तो कर्म त्याग व फल त्याग दोनों ही यथार्थ रूप से सिद्ध हो जाते है।

सन्यास मार्ग में ज्ञान को प्रधान मान लेने पर भी उस ज्ञान की सिद्धि कर्म किये बिना नही होती और कर्मयोग में यद्यपि कर्म किया करते है, तो वे भी ज्ञान पूर्वक होते है इस कारण ब्रह्म प्राप्ति में कोई बाधा नही होती। फिर इस पर विवाद नहीं होना चाहिये कि दोनों मार्ग भिन्न भिन्न है और कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है जब दोनो ही मार्ग मुक्ति के मार्ग है।

आज के समाज ने जो स्थान जगदीश वसु, सुभाष बोस, आइंस्टीन, सरदार पटेल आदि आदि अनेक महान कर्मयोगियो का है वो ही स्थान आदि गुरु शंकराचार्य, संत ज्ञानवेश्वर आदि आदि सांख्य योगीयो का है। कर्मयोगी एवम सांख्य योग में सभी एक दूसरे को बराबर का सम्मान देते हुए देखे जाते है।

जो वैदिक (निष्काम) कर्मयोग है वह तो उसी ज्ञानयोग का साधन होने के कारण गौण रूप से योग और संन्यास कहा जाने लगा है। वह उसी का साधन कैसे है क्योंकि बिना कर्मयोग के पारमार्थिक संन्यास प्राप्त होना कठिन है दुष्कर है। फल न चाहकर ईश्वरसमर्पण के भाव से किये हुए वैदिक कर्मयोग से युक्त हुआ ईश्वर के

स्वरूप का मनन करनेवाला मुनि ब्रह्म को अर्थात् परमात्मज्ञान निष्ठारूप पारमार्थिक संन्यास को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है इसलिये भगवान ने कहा कि कर्मयोग श्रेष्ठ है।

सांख्य से कर्म योग श्रेष्ठ बताने वाला ग्रंथ गीता ही है, अन्यथा वेदों और उपनिषदों में सन्यास योग को अधिक महत्व दिया गया है। यही गीता को व्यवहारिक ज्ञान का ग्रंथ बनाता है और इस का उपदेश किसी पेड़ के नीचे नही देते हुए, युद्ध भूमि में दिया गया है। एक सामान्य व्यक्ति गृहस्थ होता है और अपने और परिवार के धन का उपार्जन करता है। गृहस्थ आश्रम व्यवस्था में सब से महत्वपूर्ण आश्रम है क्योंकि बाकी सभी ब्रह्मचर्य, सन्यास और वानप्रस्थ आश्रम के जगत में पालन का भार वही उठाता है। धन उपार्जन से ले कर अपने कार्य, परिवार और समाज एवम व्यक्तिगत जीवन में जो रहने की जीवन शैली होनी चाहिए, वह हमे गीता के कर्म योग से प्राप्त होती है, सृष्टि यज्ञ चक्र में जो ब्रह्मा जी लोकसंग्रह हेतु कर्म करते रहने का आदेश दिया था, उस का पालन कर्मयोगी ही कर सकता है। उसे ज्ञान के रास्ते में चलते रहने में कर्म सन्यास योग ही मार्ग दिखाता है। इसलिए जो कर्म योग या कर्म सन्यास में विभेद नही करते हुए, अपनी योग्यता के अनुसार मार्ग चुन कर ज्ञान के अनुसार आगे बढ़ता है, वही श्रेष्ठ मार्ग उस के लिए होता है।

आगे हम कर्मयोग एवम कर्मयोगी के बारे में कुछ और जानेंगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.05।।

।। सांख्य योग एवम कर्म योग ।। विशेष 5.05 ।।

दृश्य 1 - घर से भाग कर सन्यास ले लिया, वस्त्र गेरूवें, गले में रूद्र माला और ललाट पर चंदन। कुछ दाढ़ी भी बडी हुई। किंतु मन में सांसारिक वस्तुओं अच्छे आश्रम, कार, भोजन और वस्त्र की अभिलाषा। इसलिए अमीर चेलों को खोजते रहना। यह सन्यास न तो कर्मयोग है और न ही कर्म सन्यास।

दृश्य 2, व्यापार में खूब धन कमाया, बच्चे भी आज्ञाकारी, समाज में बहुत नाम और दान धर्म में संस्थाओं कोचन्दा भी दे कर वहां के बड़े बड़े पद हासिल करते है। विभिन्न प्रोग्राम करते है जिस में उन का गुण गान हो। यह भी कर्म योग नही है।

दृश्य 3 : विचारो और कर्म से धार्मिक, धार्मिक पुस्तके भी लिखते है, प्रवचन भी बहुत अच्छा करते है। किंतु पुस्तको पर रॉयल्टी लेते है, प्रवचन के धन और व्यवस्था भी चाहिए, साथ में नाम का प्रचार भी। यह भी न कर्म योग है न ही कर्म सन्यास।

दृश्य 4 ; साधारण गृहस्थ को चलाते है, व्रत और उपवास करते है, मंदिर में रोज जाते है। अपना भविष्य और सुख की अति अभिलाषा में ज्योतिषों और संत वेश भूषा वाले लोगो को पूजते है। कैसे भी धन कमा कर उस का उपभोग करे, समाज में नाम हो। चरित्र में कोई सच्चाई नहीं।

दृश्य 5; ज्ञान के प्रसार का माध्यम आज टीवी और इंटरनेट है। किंतु उस में भविष्यवाणी, छोटे छोटे टोटके और सांसारिक सुखों को प्राप्ति के उपाय ज्यादा बताए जाते है। व्हाट्सएप पर भगवान की तस्वीर डाल कर या अत्यंत सुंदर उपदेश डाल कर लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री कर लेते है। पतंजलि योग में समाधि में भी मनुष्य का योग या साधना तभी तक है, जब तक वह समाधि में ध्यान लगा कर बैठा है। जैसे ही वह समाधि से उठता है, प्रकृति द्वारा उस के मन,बुद्धि और अहम में सांसारिक विकार जन्म ले लेते है।

यह हमारे रोजमर्रा की जिंदगी के चरित्र है, गीता जैसे ग्रंथो को पढ़ने तक सीमित ज्ञान के लोग, जिन्हे व्यवहार में अपना व्यापार और आचरण चाहिए और शिक्षित दिखने के लिए वेद शास्त्रों का ज्ञान। यह हमारा चरित्र अर्जुन से मिलता जुलता है, अंतर यही है अर्जुन अनुसूए था, श्री कृष्ण का अनन्य भक्त था किंतु हम अभी भी आसक्ति, कामना और अहम में ग्रसित है। अर्जुन मुमुक्षु और जिज्ञासु था किंतु हम लापरवाह है।

भगवान श्री कृष्ण को कुशल एवम ज्ञानी प्रवक्ता माने तो यह बात स्पष्ट हो रही है शंकित, मोह ग्रस्त, अहम से भरे शास्त्र योग से युक्त एक क्षत्रिय योद्धा अर्जुन को उन्हीं के प्रश्नों का उत्तर देते देते भगवान मूल शास्त्रज्ञान में तत्वदर्शन के ज्ञान की प्राप्ति के लिये कर्म सन्यास योग की ओर हम सब को ले कर जा रहे है। शमशान का एक चक्कर लगाने मात्र से यह यो समझ में आ जाता है कि पंच तत्व का शरीर इसी में विलीन होता है। फिर जिंदगी भर जिस मोह, कामना एवम अहम से साथ राग–द्वेष, क्रोध, घृणा और लोभ के कारण कर्म करते है उस का कोई अर्थ नही क्योंकि उस का अंत लगभग एक ही है। कोई हमे यह कहे कि तुम स्वयं में परमात्मा हो, नित्य हो, सद्चित्त आनन्द हो, तो हम विश्वास नही करते, क्योंकि जिस आईने में हम अपना स्वरूप देखते है, उस पर कर्मफल के बन्धन की धूल जमी हुई है और यदि यह सभी कर्म, कर्म बंधन के अंतर्गत किये गए है तो उस के फल को भोगने एवम मन के साथ जुड़ी कामनाओं के कारण जन्म मरण का फेरा अवश्य ही लगता रहेगा। अतः हम को बाहर कुछ भी नही खोजना है, जो है वह सब कुछ हमारे पास है, किन्तु अपनी अज्ञान की परत के स्वरूप में जमी धूल साफ करनी है। कर्म योग एवम सांख्य योग द्वारा ही यह धूल हटाई जा सकती है। क्योंकि इसी मार्ग पर चल कर आगे ज्ञान द्वारा तत्व दर्शन होता है, और हम अपने कामना, आसक्ति और अहम के स्वप्न से जाग उठते है।

प्रायः यह धारणा की सन्यासी कर्म से निवृत हो कर कर्म नही करते, गलत है। कर्म जीवन का अनिवार्य भाग है, जब तक शरीर है कोई भी कर्म से भाग नही सकता। सन्यास योग में तत्वज्ञान के लिये कठिन अध्ययन एवम अभ्यास करना पड़ता है, जो ध्यान द्वारा मन एवम बुद्धि को नियंत्रित करना है। जीव अपने को ब्रह्म से जोड़ता है एवम जो भी क्रिया होती है, उसे प्रकृति की क्रिया मान कर करता है। यही सन्यास का आत्म दर्शन है। तत्वदर्शी सन्यासी भी लोकसंग्रह के परमार्थ के कार्य करता है। शंकराचार्य द्वारा वैदिक धर्म प्रणाली का उत्थान, स्वामी समर्थदास जी द्वारा शिवा जी को जो ज्ञान एवम प्रेरणा देना और महृषि व्यास जी द्वारा महाभारत एवम भागवद की रचना आदि आदि अनेक उदाहरण है।

सन्यासी कर्म को प्रकृति की क्रिया समझ कर अपने को उस से मुक्त रखते है किंतु लोकसंग्रह के लिए सन्यासी भी जगत में कर्मयोगी को ज्ञान दे कर समाज का मार्ग दर्शन करते है, शिवा जी के गुरु रामदास समर्थ इस का सटीक उदाहरण है।

भीष्म भी ज्ञानी और योगी थे और व्यास जी। किन्तु वर्ण और आश्रम से दोनो भिन्न भिन्न थे। जो कर्म भीष्म कर सकते थे वह व्यास जी नही और जो कर्म व्यास जी कर सकते थे, वह भीष्म नही। अतः योग जीव के पूर्व संस्कार, गुण, धर्म शिक्षा के अनुसार की करना उचित होता है। कर्म योगी भी उसी तत्वदर्शन का ज्ञान प्राप्त करता है जो सांख्य योगी। वह कर्म के भोक्तत्व भाव को निष्काम को कर मुक्त होता हुआ, कर्तृत्वभाव से मुक्त हो जाता है और सन्यासी कर्तृत्त्व भाव से मुक्त होने से भोक्तत्व भाव से मुक्त होता है।

कर्मयोग पर गीता में अधिक पक्ष रखने का उद्देश्य सिर्फ यही है कि यह युद्ध भूमि में कर्मयोद्धा को सुनाई गई है। गीता सांसारिक लोगो के लिये मोक्ष का मार्ग संसार मे कर्म करते हुए किस प्रकार प्राप्त करे, यही ज्ञान के लिये दी गई है जिस से मोक्ष पर सन्यास मार्ग का एकाधिकार भी समाप्त हो और यह विवाद भी मिटा दिया जाए कि कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है। जब जीव का मुख्य उद्देश्य ज्ञान को प्राप्त कर के मोक्ष को प्राप्त करना है।

लोग एवम समाज आप को आप के निष्काम भाव से परिवार, समाज, देश एवम विश्व के लिये किये कार्यो के लिये याद करता है। वैसे ज्ञान युक्त कर्मयोगी क्योंकि तत्वदर्शन को प्राप्त करने के लिये कार्य करता है तो उसे कोई किस रूप में याद करे उसे इस का कोई अर्थ नही वो तो निःद्वन्द एवम निष्काम है। किंतु सृष्टि यज्ञ चक्र मे प्रकृति के त्रिगुण माया में ऐसे लोग संसार के लिये मार्गदर्शक होते है। ज्ञान की प्राप्ति के बाद सांख्य योगी और कर्मयोगी जब तक जीवन है, तब तक लोकसंग्रहार्थ कर्म करते है, फिर ब्रह्म में विलीन को कर मोक्ष को प्राप्त होते है।

गीता में अभी तक हम ने पढ़ा

सांख्य, कर्मयोग और ज्ञान कर्म योग।

अब हम पढ़ कर्म सन्यास योग को पढ़ रहे है। ध्यान से देखे तो द्वितीय अध्याय संक्षिप्त में यह सब था और अब उसी को ही अब एक एक कर के विस्तृत कर के सांख्य एवम कर्मयोग को ही बताया जा रहा है। प्रत्येक मार्ग हमे प्रकृति के क्षणिक सुख दुख, मोह, कामना, आसक्ति एवम अहम से ऊपर उठ कर हम अपने आप से परिचित हो और जाने की हम उस ब्रह्म के अंश है जो गीता धीरे धीरे युद्ध पृष्ठ भूमि को त्याग कर ज्ञान के मार्ग पर चलेगी जिस से हम अपने कर्तव्य धर्म को पहचान कर निष्काम कर्म को कर सके। इस मे जिस भी गुणों का वर्णन कर्मयोगी के लिये किया गया है वो व्यक्त्वि विकास के लिये पूरे संसार ने माना है। इस के साथ साथ यदि हम भी चले तो संभवतः ज्ञान प्राप्त भी हो और तत्व दर्शन का मार्ग भी प्रशस्त हो। किन्तु एक धार्मिक ग्रंथ की तरह अध्ययन करे तो यह आप के ज्ञान में वृद्धि अवश्य करेगी।

हमारा सौभाग्य की व्यास जी भगवान श्री कृष्ण जैसा धैर्यवान, ज्ञानवान, स्पष्ट और निर्भीक, निरासक्त, निष्काम वक्ता दिया जो अर्जुन के स्वरूप में हमारे प्रश्नों को अत्यंत विस्तार से उत्तर दे रहे है। फिर भी यदि हम ज्ञान को एक तरफ रखते हुए, गीता को सिर्फ कंठस्थ करते है, आपस में बहस का विषय बनाते है या गीता के पाठ में अपने सांसारिक सुखों को खोजते है तो हम न तो कर्म योगी है और न ही कर्म सन्यासी। हम प्रकृति के बंधन में कर्म चक्कर में फसे जीव मात्र है। यही बात आगे और स्पष्ट रूप में भी समझेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 5.5 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.6॥

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥

"sannyāsas tu mahā-bāho,
duḥkham āptum ayogataḥ..।
yoga-yukto munir brahma,
na cireṇādhigacchati"..।।

भावार्थ :

हे महाबाहु! निष्काम कर्म–योग (भक्ति–योग) के आचरण के बिना (संन्यास) सर्वस्व का त्याग दुख का कारण होता है और भगवान के किसी भी एक स्वरूप को मन में धारण करने वाला "निष्काम कर्म–योगी" परब्रह्म परमात्मा को शीघ्र प्राप्त हो जाता है। (६)

Meaning:

For renunciation, O mighty-armed, is difficult to attain without yoga. The contemplative person established in yoga swiftly attains the eternal essence.

Explanation:

In this shloka, Shri Krishna says that for a seeker that has not fully exhausted his desires, bypassing the first stage of karmayoga will make attainment of the eternal essence difficult. The best option is to start with karmayoga, because like the yoga of knowledge, it too will yield the same result of self-realization.

A silent place for a mature person, it is a blessing; he will think of ātma brahman, but the very silent place, for another person, it can take up all the inner problems and other things can come; and one may go crazy and therefore Krishna says, to enjoy sanyāsa āśrama, one requires a level of mind which is not that easy.

To understand this, let us examine a different question: Why are there so few PhDs in the world? It takes a certain kind of person to obtain a PhD. One has to be ready to spend most of their life in a lab. One has to do what it takes to get their experiment right. They have to survive on their petty stipend for several years. And all this is for the sole objective of discovering something that benefits mankind.

Similarly, not many people can minimize their worldly activities so much that they retire to an ashram to gain knowledge from a teacher. For most of us, the pull of our desires is so strong that we will continue to work in this world. Therefore, liberation has to come from our actions, not through renunciation.

We are all propelled to work by our nature. Arjun was a warrior, and if he had artificially renounced his duty, to retire to the forest, his nature would make him work there as well. He would probably gather a few tribesmen and declare himself their king. Instead, it would be more fruitful to use his natural inclinations and talents in the service of God. So the Lord instructs him, “Continue to fight, but make one change. At first, you came to this battleground on the presumption of saving a kingdom. Now, instead, simply dedicate your service unselfishly to God. In this way, you will naturally purify the mind and achieve true renunciation from within.”

Furthermore, Shri Krishna also mentions a caveat about action. One should not perform actions just like that. Karmayoga advocates thoughtful action, where one thinks before one acts. The biggest obstacle in moving forward spiritually is our ego. It creates selfish desires that move us towards the material world. So, when we performs actions thoughtfully, in other words, when we ensure that our actions are performed without attachment towards the result, our selfish desires automatically get slowly eliminated.

Living in a cave in the Himalayas, a yogi may feel that he has renounced, but the test of that renunciation comes when he returns to the city. For instance, one sadhu practiced austerities for twelve years in the mountains of Garhwal. He came down to Haridwar to participate in the holy fair called Kumbh Mela. In the hustle and bustle of the fair, someone accidentally placed his shoe on the sadhu's bare foot. The sadhu was infuriated, and screamed, "Are you blind? Can you not see where you are going?" Later he repented for permitting anger to overcome him, and lamented, "Twelve years of austerities in the mountains got washed away by living one day in the city!" The world is the arena where our renunciation gets tested.

Krishna says even though both aśramas are equally efficacious, from the standpoint of a person's preparation level; we can find out which one is better and if you are going to study from that angle, Krishna says for a mature and prepared mind, sanyāsa āśrama is OK, fine; it is wonderful; whereas for an unprepared mind, sanyāsa āśrama is not, not because the āśrama has got some problem but because of one's mental immaturity.

।। हिंदी समीक्षा ।।

आत्मज्ञान की साधना में कर्म के स्थान के विषय में प्राचीन ऋषिगण जिस निष्कर्ष पर पहुँचे थे भगवान् यहाँ उसका ही दृढ़ता से विशेष बल देकर प्रतिपादन कर रहे हैं।

निष्काम कर्म से आत्म शुद्धि अवश्य होती है किंतु इस मे कर्ता भाव भी बना रहता है। अतः इस के बाद ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है जिस को **'क्रम समुच्चय'** भी कहते है। ज्ञान युक्त निष्काम कर्म सन्यास में अपने आत्मस्वरूप में योग पाया हुआ मनन शील योगी तो बिना किसी विलम्ब के तत्काल ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

पूर्व में यह तो स्पष्ट कथन दिया गया है कि बिना आसक्ति, कामना और अहम को त्यागे, जिसे राग – द्वेष भी कहा गया है, कर्मयोग या कर्म सन्यास दोनो ही निरर्थक प्रयास है। कर्म प्रकृति की क्रिया है, कोई भी जीव बिना कर्म किए नही रह सकता तो उस का प्रथम प्रयास निष्काम कर्म का ही होना चाहिए। अक्सर लोग विभिन्न प्रकार से व्रत, उपासना, अध्ययन, पूजा, यज्ञ और प्रवचन का श्रवण भी कामना और आसक्ति के साथ शुरू कर देते है। इस प्रकार जो कर्म योग या सन्यास शुरू करते है उन्हे निष्काम होने में अतिरिक्त समय लगता है, परंतु यह उन लोगो से कुछ हद तक ठीक ही है, जो पूर्णतयः भोग और विलास की जिंदगी जीते है।

कर्म पालन के बिना वास्तविक कर्मसंन्यास असंभव है। किसी वस्तु को प्राप्त किये बिना उस का त्याग कैसे संभव होगा इच्छाओं के अतृप्त रहने से और महत्त्वाकांक्षाओं के धूलि में मिल जाने के कारण जो पुरुष सांसारिक जीवन का त्याग करता है उस का संन्यास वास्तविक नहीं कहा जा सकता। किसी धातु विशेष के बने पात्र पर मैल जम जाने पर उसे स्वच्छ एवं चमकीला बनाने के लिए एक विशेष रासायनिक घोल का प्रयोग किया जाता है। जंग (आक्साइड) की जो एक पर्त उस पात्र पर जमी होती है वह उस घोल में मिल जाती है। कुछ समय पश्चात् जब कपड़े से उसे स्वच्छ किया जाता है तब उस घोल के साथ साथ मैली पर्त भी दूर हो जाती है और फिर वहाँ स्वच्छ चमकीला और आकर्षक पात्र दिखाई देता है। मन के शुद्धिकरण की प्रक्रिया भी इसी प्रकार की है। कर्मयोग के पालन से जन्म जन्मान्तरों में अर्जित वासनाओं का कल्मष दूर हो जाता है और तब शुद्ध हुए मन द्वारा निदिध्यासन के अभ्यास से अकर्म आत्मा का अनुभव होता है और यही वास्तविक कर्मसंन्यास है। ध्यान के लिए आवश्यक इस पूर्व तैयारी के बिना यदि हम कर्मों का संन्यास करें तो शारीरिक दृष्टि से तो हम क्रियाहीन हो जायेंगे लेकिन मन की क्रियाशीलता बनी रहेगी। आंतरिक शुद्धि के लिए मन की बहिर्मुखता अनुकूल नहीं है।

वास्तव में देखा जाय तो यह बहिर्मुखता ही वह कल्मष है जो हमारे दैवी सौंदर्य एवं सार्मथ्य को आच्छादित किये रहता है।

यह तो स्पष्ट है कि शरीर से परे इंद्रियां है, इंद्रियाओ से परे मन है, मन से परे बुद्धि है, फिर चेतन और चेतन से जीव का आत्म स्वरूप परमात्मा है। **अतः ऐसा कोई योग नही जो मात्र यह कहने से कि मैं ही ब्रह्म स्वरूप परमात्मा हूँ, शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ,मेरे लिए न कोई तो कर्म के और न ही कोई बंधन। मै भला बुरा कुछ करता दिखाई पड़ता हूँ तो वो इंद्रिया ही अपना अर्थ बरत रही है। यह सब पाखंड, ढोंग और मिथ्या भ्रम के अतिरिक्त कुछ नही।** ऐसे व्यक्ति को अपनी वस्तुओ का मोह बना रहता ही है और वह मन में अपनी अतृप्त कामनाओं को ले कर चलता है। किसी ऐसे बाबा जी को निरादर कर के देख ले, उसे क्रोध आ ही जाएगा।

जीव का जन्म पूर्व जन्म के कर्म फल, संस्कार एवम प्रारब्ध है। इस से प्रकृति में वह गुण धर्म से व्यवहार को वर्तता है। सन्यास अर्थात सांख्य योग बिना सहज कर्म किये पूर्व जन्म के संचित कर्मो एवम प्रारब्ध के कारण मन, बुद्धि एवम चेतन तत्व अंतःकरण से शुद्ध होना मुश्किल हो जाता है, इसलिये घर संसार त्याग कर सीधे ज्ञान को प्राप्त करने वाला सन्यासी प्रायः भटक जाता है। **इसलिये भगवान श्री कृष्ण कहते है लाखो में कुछ ही लोग ही सांख्य मार्ग से सीधे ज्ञान को प्राप्त कर पाते है, वह भी योग्य गुरु मिलने के कारण।** किन्तु कर्म योग में कर्म फल में आसक्ति एवम कामना के त्याग से धीरे धीरे संचित एवम प्रारब्ध कर्म फल क्षीण हो जाते है जिस के मन, बुद्धि एवम कर्त्ता भाव मे शुद्धता आने लगती है और ज्ञान प्राप्त हो जाता है। दुख में उद्वेग रहित मनवाला, सुख में स्पृहरहित तथा राग, भय और क्रोध से रहित स्थित बुद्धि, समभाव वाला ही कर्म सन्यासी ज्ञान योग का संपादन कर पाता है। यही सरल एवम अपनाने के उचित मार्ग है जिस से सृष्टि यज्ञ चक्र भी चले, लोक संग्रह हेतु कर्म भी हो एवम मोक्ष की प्राप्ति भी हो सके।

व्यवहार दृष्टिकोण से यदि किसी को कोई कार्य दिया जाए और वो मेहनती है तो कार्य तो सम्पन्न होगा किन्तु उसे दिशा निर्देश देना पड़ेगा। और यदि वो निपुण है तो कार्य बता देने पर उतना कार्य कर देगा और यदि वो मननशील भी है तो कार्य करने के बाद उस को कार्य के उद्देश्य तक पहुचा भी देगा। अतः मेहनती, निपुण एवम मननशील बुद्धि युक्त व्यक्ति किसी भी कार्य को कुशलता पूर्वक सम्पन्न कर सकते है और अन्य को यह सब अभ्यास से सीखना पड़ेगा। यही निष्काम कर्म, ज्ञान एवम कर्म सन्यास द्वारा तत्वदर्शन को प्राप्त करने का मार्ग है। आज व्यापार, व्यवसाय, घर गृहस्थी में लोग यदि मोक्ष की आकांक्षा रखते है, तो मन, बुद्धि एवम चेतन से समभाव होना आवश्यक है, उन्हें इस संसार की त्यागने की आवश्यकता नही है।

संसार में जितने भी धनिक लोग है, वे कर्म की पराकाष्ठा से उच्चतम स्तर पर जब पहुंच जाते है तो त्याग की भावना से दान और धर्म भी करते देखे गए। यह एक सांकेतिक चिन्ह है जो यह बताता है, सकाम कर्म करते हुए भी व्यक्ति निष्काम कर्म की बढ़ता चला जाता है किंतु कर्म सन्यास से जब तक मन से व्यक्ति शुद्ध बुद्ध नही होता, उस का सन्यास सिर्फ भटकाव के कुछ नही है। मन का शुद्ध बुद्ध होना बिना कर्म के होना अत्यंत कठिन कार्य है। लाखो में कोई एक सफल होता है।

प्राचीन काल के हिन्दू मनीषियों की आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र में यह सबसे बड़ी खोज है। जहाँ भगवान् ने यह कहा कि कर्मयोग की भावना से कर्म किये बिना ध्यान की योग्यता अर्थात् चित्तशुद्धि नहीं प्राप्त होती वहीं वे यह आश्वासन भी देते हैं कि साधकगण उचित प्रयत्नों के द्वारा ध्यान के अनुकूल इस मनस्थिति को प्राप्त कर सकते हैं। योगयुक्त जो पुरुष सदा निरहंकार और निस्वार्थ भाव से कर्म करने में रत होता हैं उसे मन की समता तथा एकाग्रता प्राप्त होती है। साधक को ध्यानाभ्यास की योग्यता प्राप्त होने पर कर्म का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। ऐसे योग्यता सम्पन्न मुनि को आत्मानुभूति शीघ्र ही होती है।परमात्मा का अनुभव कब होगा इस विषय में कोई कालमर्यादा निश्चित नहीं की जा सकती। अचिरेण शब्द के प्रयोग से यही बात दर्शायी गई है। उपर्युक्त विवेचन से कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्म के आचरण को श्रेष्ठ कहने का कारण स्पष्ट हो जाता है।

ध्यान रहे, अर्जुन एक कर्म वीर योद्धा है, आज युद्ध भूमि में मोह और भय के कारण यदि सन्यास ले भी लेता है, तो भी वह भटकता ही रहेगा, उस के उचित है वह युद्ध करे, किंतु युद्ध शासन करने या शत्रु को पराजित कर के दंड देने के लिए नही करते हुए, कर्मयोग की भांति बिना राग और द्वेष के साथ करे। कर्ण, भीष्म और द्रोण भी युद्ध अपने अपने कर्तव्य कर्म से कर रहे थे, उन्हे भी कौरव से कोई राग या पांडवों से कोई द्वेष नहीं था।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.06।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.7॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

"yoga-yukto viśuddhātmā,
vijitātmā jitendriyaḥ..।
sarva-bhūtātma-bhūtātmā,
kurvann api na lipyate"..।।

भावार्थ :

"कर्म–योगी" इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाला होता है और सभी प्राणीयों की आत्मा का मूल–स्रोत परमात्मा में निष्काम भाव से मन को स्थित करके कर्म करता हुआ भी कभी कर्म से लिप्त नहीं होता है। (७)

Meaning:

One who is established in yoga, who has conquered the mind, body and senses, one who sees his own self in all beings, even while acting is not tainted.

Explanation:

The word atma has been used in multiple ways in the Vedic literature: for God, for the soul, for the mind, and for the intellect. This verse typifies all these uses. Shree Krishna describes the karm yogi who is yog yukt (united in consciousness with God). He says that such a noble soul is: 1) viśhuddhatgma, of purified intellect, 2) vijitatma, who has conquered the mind, and 3) jitendriya, one who has controlled the senses.

These are the three conditions which make a karma yogi, giving priority to spiritual growth; dedicating the very life as an offering to the Lord and accepting every experience as prasadam from the Lord. Such a person is called yogayuktaḥ and what is the result of this sadhana? This sadhana changes the personality. So what becomes different, while the society is going to measure your success in terms of your possession, vedanta measures your success in terms of your personality transformation. Karma yoga may not bring success as the society sees but karma yoga brings success as vedanta sees.

First stage is Yogayukthaḥ, karma yogi is one, who balances materialistic pursuits and spiritual pursuits. Karma yogi is one who does not spend the whole day in earning money only. A karma yogi knows that every individual is a mixture of matter and spirit; atma is spirit, anatma is matter; dehi is spirit, deha is matter, we are all a mixture of both of them. That means our life should have a balance between spiritual pursuit and material pursuit.

What I am is more important than what I have. Śankarācārya describes a jnani who does not possess anything at all but still he is purṇa; therefore ultimately what matters is not what I have but what I am; If this importance is understand, I have become a beginning karma yogi.

And this karma yōgi will gradually become what viśuddhatma, viśuddhātmā will get a purer mind where the vairāgyam becomes more and more; he depends less and less on external factors; because he has understand that dependence is samsara; and independence is mokṣa.

Imagine that a new factory has opened up in a small town, and the public has been invited to take tours of the factory. In one such tour, we have a businessman, an environmentalist, an engineer and a musician. As he is walking through the factory, the businessman's first thought is about the amount of profit that this factory generates. The environmentalist thinks about the pollution caused by the factory. The engineer marvels at the brand new machines. And the musician loves the rhythm generated by the clanking machines. One's vision gives an indication of how one's mind works.

In this shloka, Shri Krishna illustrates the vision of one who is acting with the spirit of karma yoga. Even while acting, that person does not generate any further desires, because he has the same vision that a renouncer has. He sees the eternal essence everywhere, in himself as well as in everyone else. And like the example we saw earlier, his vision indicates that his entire personality, including his mind and intellect, have gained the knowledge of the eternal essence.

Furthermore, Shri Krishna reminds us that such knowledge is not possible without first bringing the body, mind and senses under control. Actions performed by such an individual do not "taint" him. Only when the sense of doership and enjoyership is present can actions can taint someone, in other words, cause further desires to sprout. When the ego behind actions has gone away, then those actions do not generate further desires.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पहले भी भगवान ने कहा है कि ब्रम्हा द्वारा इस सृष्टि का संचालन एवम धर्म की रक्षा करने हेतु मुझे भी अवतरित हो कर कर्म करना पड़ता है किंतु मुझे कर्म बंधन नही होते और न ही मेरा जन्म होता है।

ज्ञान कर्म सन्यास योगी जो परमात्मा है दिव्य स्वरूप एवम दिव्य कर्म को प्राप्त करता है उस के गुणों एवम उस के पूर्ण योग की स्थिति को इस श्लोक में वर्णन किया गया है।

जिस व्यक्ति ने शरीर, मन, इंद्रियाओ पर विजय प्राप्त कर ली हो और जो शुद्ध अन्तःकरण के साथ चेतन से मुक्त हो कर चैतन्यमय हो कर परमात्मा से एकीकरण प्राप्त कर चुका हो, वो ज्ञान युक्त कर्मयोगी किसी भी कर्म में कर्म करता हुआ भी लिप्त नही होता। ईश्वर के जिस दिव्य कर्म को हम ने पहले पढ़ा था उस को जानने वाला किस प्रकार का जीव होगा यह ही अब भगवान बता रहे है। हम इस को इस प्रकार समझ सकते है।

1, जो विजेता है अर्थात जिस ने अपने शरीर पर काबू पा लिया है यानी पूर्ण रूप से स्वस्थ है।

2, जो जितेंद्रिय है यानि जिस ने मन, इच्छा, मोह, कामनाओं एवम अपनी भावनाओं पर विजय प्राप्त कर ली है। अर्थात जिस ने अपनी ज्ञान इंद्रियाओ एवम कर्म इंद्रियाओ को नियंत्रित कर लिया है।

3 जो विशुद्ध है यानि जो कर्तृत्व एवम भोक्तत्व इन दोनों भाव से मुक्त है, जिस में तत्वदर्शन ज्ञान द्वारा अहम नष्ट हो चुका है।

यदि अहम नही अर्थात जिसे यह भी ज्ञान नहीं कि उस का अहम नष्ट हो चुका है वो और परमात्मा एक ही हो जाते है। क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियो का मूल तत्व या मूल उदगम परमतत्व ही है जिस में वो स्थित हो जाता है। अद्वैत में परमात्मा और जीव के मध्य अहम का अंतर है, जब जीव का अहम नही रहता, तब जीव भी परमात्मा से अलग हो कर दो नही रहते तो उस के भी सभी कर्म दिव्य कर्म हो जाते है अर्थात उस ने भगवान के दिव्य स्वरूप एवम दिव्य कर्म को प्राप्त कर लिया होता है।

जब निष्काम भाव का उदय होता है तो भी कर्ता भाव बना रहता है। यह अहम की मैं लोकसंग्रह हेतु कार्य कर रहा हूँ, मन, बुद्धि एवम जीव को बांधे रखता है। इस से आगे जब कर्ता भाव समाप्त हो जाता है तो करनेवाला या कराने वाला या जिस के लिये किया जाता है, सब एकत्व में शामिल हो जाता है। वह सभी मे स्वयं को देखता है। जिसके मनसे राग–द्वेष आदि संसार – विषयक कल्पनाएं शान्त हो गयी हैं, जो अंग–प्रत्यंगोवाला देहधारी होकर भी देहात्मबोध से रहित है , जिस का चित्त जन्म–मरण आदि की चिन्ताओं से पूर्णतः मुक्त हो गया है , उसे जीवन– मुक्त कहते हैं ।

प्रारब्धवश छाया के समान रहनेवाली देह में विद्यमान रहते हुए भी , अहंता और ममताका नितान्त अभाव होना एवम जीवन मुक्त होने अर्थ है भूतकाल में हुई घटनाओं का स्मरण– विश्लेषण न करना, भविष्य की चिन्ता न करना और वर्तमान में प्राप्त हुए सुख–दुख आदि में पूर्णतः उदासीन रहना, अपने आत्मस्वरूप से सर्वथा पृथक, इस गुणदोषमय संसार में सर्वत्र समदर्शी (ब्रह्मरूप देखना) होना एवम प्रिय और अप्रिय–– जो भी प्राप्त होता है, दोनों अवस्थाओं में मन का समदृष्टि से निर्विकार बने रहना है।

देह तथा इन्द्रियादि में और कर्तव्य में जो ममता और अहंकार से रहित होकर उदासीनतापूर्वक रहता है एवम श्रुति या गुरू से महाकाव्य –श्रवण के द्वारा जिसे अपने ब्रह्मभाव की अनुभूति हो गयी है और जो भव – बन्धन से मुक्त हो चुका है , वह पुरुष जीवन मुक्त हो जाता है।

वस्तुतः कर्मयोग या सांख्य योग से मनुष्य जब कर्तृत्त्व एवम भोक्तत्व भाव से मुक्त होता है, तो उस मे ज्ञान का उदय होता है। वह सभी मे अपने को और अपने मे सभी को देखने लगता है। इसलिये वह कर्म करता हुआ भी निर्लिप्त रहता है।

अष्टावक्र जी कहते हैं–– ' मैं कर्ता हूँ ' -

ऐसे अहंकार रूपी विशाल काले सर्प से तुम डसे हुए हो । ' मैं कर्ता नहीं हूँ '-

ऐसे विश्वास रूपी अमृत को पीकर सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाओ । यह अहंकार ही पाप का मूल है । अहंकार से ही संसार का खेल है। अहंकार को समाप्त करने का एकमात्र उपाय है कि यह निश्चित कर लो कि तुम बोध स्वरूप आत्मा हो ।।

अष्टावक्र जी कहते हैं–– हे विभो (व्यापक) ! धर्म–अधर्म, सुख–दुख और कर्म मन से होते हैं – ये तुम्हारे धर्म नहीं हैं। तुम न कर्ता हो, न भोक्ता हो; तुम तो सदा से मुक्त ही हो। यथार्थ में धर्म–अधर्म, सुख–दुख मन के ही हैं। अहंकार और मन के समाप्त होते ही मनुष्य कर्तापन और भोक्तापन, धर्म और अधर्म एवम् सुख और दुख से मुक्त हो जाता है ।।

शंकराचार्य जी ने भी कहा है;

कौन कर्म और अज्ञान – इन दोनों के नाश की कल्पना करने में समर्थ है अर्थात पुरुष के लिए यह कल्पना करना कि कौन कर्म और अज्ञान को नाश कर सकता है , कठिन है । किसी समय में भी अज्ञान के साथ कर्म का विरोध देखने में नहीं आता है ।

इसलिए कर्म से अज्ञान का नाश नहीं हो सकता है । जिस क्षण, ज्ञान के संयोग से कर्म का नाश होता है , उस समय ज्ञान और कर्म दोनों का विरोध होना उचित है ; जैसे प्रकाश और अंधकार दोनों में परस्पर विरोध होता है । तात्पर्य यह है कि हम एक ऐसा नियम देखते हैं कि एक ही समय में , किसी के संयोग से दूसरी वस्तु का नाश होता है । मन में भी परस्पर विरोध देखने में आता है । अतः पृथक–पृथक स्वभाववाले उन दोनों का ही विरोधीपना उचित है , जैसे अन्धकार और प्रकाश का आपस में विरोधीपना है । इसलिए जब ज्ञान का सम्बन्ध (संयोग) होता है , तब अज्ञान का नाश होता है । अर्थात ज्ञान ही अज्ञान के नाश का कारण है ।।

प्राणी कर्म के अनुसार ही जन्म लेता है और कर्म के अनुसार मई मरता है । यह जन्म –मरण का प्रवाह कर्म का ही फल है । क्योंकि कर्म अज्ञान का कार्य है और अज्ञान के कारण बढ़ता है । इसलिए जन्म– मरण के प्रवाह के अतिरिक्त इससे विलक्षण और कोई कार्य, कर्म का नहीं है ।।

अगले श्लोक में हम इस प्रकार के ज्ञान कर्म सन्यास योगी कैसा दिखता है और किस प्रकार रहता है, व्यवहार करता है पढ़ेंगे। क्या आप ने ऐसा कर्मयोगी पुरुष देखा है तो अवश्य विचार करे कि क्या उस मे यह सब गुण है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.07।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.8-9॥

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपंश्वसन् ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

"naiva kiñcit karomīti,
yukto manyeta tattva-vit..।
paśyañ śṛṇvan spṛśañ jighrann,
aśnan gacchan svapan śvasan..।।8।।

pralapan visṛjan gṛhṇann,
unmiṣan nimiṣann api..।
indriyāṇīndriyārtheṣu,
vartanta iti dhārayan"..।।9।।

भावार्थ :

"कर्म–योगी" परमतत्व– परमात्मा की अनुभूति कर के दिव्य चेतना मे स्थित होकर देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वांस लेता हुआ; इस प्रकार यही सोचता है कि मैं कुछ भी नही करता हूँ। (८)

"कर्म–योगी" बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखों को खोलता और बन्द करता हुआ भी, यही सोचता है कि सभी इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं, ऐसी धारणा वाला होता है। (९)

Meaning:

Never do I perform any action - in this manner asserts the one established in yoga, who has realized the eternal essence.

Explanation:

In prior shlokas, we learned that one who has realized the eternal essence understands that he is not the enjoyer and doer. So to make this as explicit as possible, Shri Krishna provided a detailed illustration of that teaching in this shloka. Here, he gives a comprehensive list of all activities performed by the body, mind and intellect. By providing this illustration, Shri Krishna demonstrates that one who has realized the eternal essence knows, in fact asserts, that he is not doing anything, and all these activities are happening automatically through the body, mind and intellect.

A person in is pure in his existence, and consequently he has nothing to do with any work which depends upon five immediate and remote causes: the doer, the work, the situation, the endeavor and fortune. This is because he is engaged in the loving transcendental service of Krishna.

Although he appears to be acting with his body and senses, he is always conscious of his actual position, which is spiritual engagement. In material consciousness, the senses are engaged in sense gratification, but in consciousness the senses are engaged in the satisfaction of Krishna's senses.

Whenever we accomplish anything substantial, we are overcome with the pride that we have done something great. The pride of being the doer of one’s actions is a stumbling block to rising beyond material consciousness.

We need not acquire love; because the innate nature of everyone is love; innate nature of everyone is compassion; but now the love and compassion are suppressed because of selfishness, which is due to abhimana; when the abhimana goes away; he does not acquire; but already available love and compassion gets thrown out; just manifested.

Therefore, the conscious person is always free, even though he appears to be engaged in affairs of the senses. Activities such as seeing and hearing are actions of the senses meant for receiving knowledge, whereas moving, speaking, evacuating, etc., are actions of the senses meant for work.

He is never affected by the actions of the senses. He cannot perform any act except in the service of the Lord because he knows that he is the eternal servitor of the Lord.

Having looked at this list of activities, we say - yes we understand that blinking, hearing, dreaming and so on is automatic. But what about the process of thinking? Shri Krishna says that even the process of thought also happens automatically. Till such time as the ego is sublimated, it drives our mind to generate selfish thoughts. As the ego gets sublimated through karma yoga, selfish thoughts slowly transition to selfless ones. But the self , or the "I", is just the witness of all these actions for one who has realized the eternal essence. Till then, the "I" thinks that it is the doer.

And how does love and compassion express itself; it expresses itself in the form of action, which is required. If he is surrounded by poor people who require the help, food, clothing, etc. he will provide that; if those things are already there; but their needs is knowledge, he will provide the knowledge; so if money is required, whatever money he gets he will give; food is required; whatever is required he will give; everything is there; but ignorance is there; solid in the society; what will he give; he will give knowledge and therefore, he allows his body- mind- complex to function according to the requirement, and all those actions will be dharmic actions. Because actions become adharmic because of deha abhimana; once deha abhimana is gone, any action will be dharmic only; because when selfishness is not there; his identification will be with what, the entire world.

Because we all got a notion that a jnani must be different from other people; some difference must be there!; some physical difference we expect; or some kind of language difference we expect, or all the time sitting with closed eyes, etc. he should be looking up we expect; or he should be laughing to himself, looking up, etc. and we have got all kinds of funny notions; and if anybody is very normal like other people, this person cannot be a jnani, because he is eating with his mouth.

Only one who has realized the vision of the eternal essence truly knows that he is not the doer. What then, should be the vision of the karmayogi who wants to ultimately have this vision? This topic is tackled in the next shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पिछले श्लोक में कर्मयोगी के बारे में पढा। आगे के यह दो श्लोक सँयुक्त अर्थ के साथ कर्मयोगी एवम कर्म का विवेचन करते है।

कर्मयोगी अपने जाग्रत विवेक से यह मानता है कि सब क्रियाएँ प्रकृति में ही हो रही हैं उन क्रियाओं का उस के साथ कोई सम्बन्ध है ही नहीं। जो अपने में अर्थात् स्वरूप में कभी किञ्चिन्मात्र भी किसी क्रिया के कर्तापन को नहीं देखता वह तत्त्ववित् है। उस में नित्य निरन्तर स्वाभाविक ही यह सावधानी रहती है कि स्वरूप में कर्तापन है ही नहीं। प्रकृति के कार्य शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि प्राण आदि के साथ वह कभी भी अपनी एकता स्वीकार नहीं करता।

यहाँ देखना सुनना स्पर्श करना सूँघना और खाना ये पाँचों क्रियाएँ (क्रमशः नेत्र श्रोत्र त्वचा घ्राण और रसना इन पाँच) ज्ञानेन्द्रियों की हैं। चलना ग्रहण करना बोलना और मलमूत्र का त्याग करना ये चारों क्रियाएँ (क्रमशः पाद हस्त वाक् उपस्थ और गुदा इन पाँच) कर्मेन्द्रियों की हैं। सोना यह एक क्रिया अन्तःकरण की है। श्वास लेना यह एक क्रिया प्राण की और आँखें खोलना तथा मूँदना ये दो क्रियाएँ कूर्म नामक उपप्राण की हैं। उपर्युक्त तेरह

क्रियाएँ देकर भगवान् ने ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ अन्तःकरण प्राण और उपप्राण से होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओँ का उल्लेख कर दिया है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण क्रियाएँ प्रकृति के कार्य शरीर इन्द्रियाँ मन बुद्धि प्राण आदि के द्वारा ही होती हैं स्वयं के द्वारा नहीं।

मनुष्य अपने को उन्हीं क्रियाओँ का कर्ता मानता है जिन को वह जानकर अर्थात् मनबुद्धिपूर्वक करता है जैसे पढ़ना लिखना सोचना देखना भोजन करना आदि। परन्तु अनेक क्रियाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें मनुष्य जानकर नहीं करता जैसे श्वास का आना जाना आँखों का खुलना और बंद होना आदि। फिर इन क्रियाओं का कर्ता अपने को न मानने की बात इस श्लोक में कैसे कही गयी इसका उत्तर यह है कि सामान्य रूप से श्वासों का आनाजाना आदि क्रियाएँ स्वाभाविक होने वाली हैं किन्तु प्राणायाम आदि में मनुष्य श्वास लेना आदि क्रियाएँ जानकर करता है। ऐसे ही आँखो को खोलना और बंद करना भी जानकर किया जा सकता है। इसलिये इन क्रियाओंका कर्ता भी अपनेको न मानने के लिये कहा गया है। दूसरी बात जैसे मनुष्य श्वास लेना आँखों को खोलना और मूँदना इन क्रियाओं को स्वाभाविक मानकर इन में अपना कर्तापन नहीं मानता ऐसे ही अन्य क्रियाओं को भी स्वाभाविक मानकर उन में अपना कर्तापन नहीं मानना चाहिये।

यहाँ पश्यन् आदि जो तेरह क्रियाएँ बतायी हैं इनका बिना किसी आधार के होना सम्भव नहीं है। ये क्रियाएँ जिसके आश्रित होती हैं अर्थात् इन क्रियाओं का जो आधार है उस में कभी कोई क्रिया नहीं होती। ऐसे ही प्रकाशित होनेवाली ये सम्पूर्ण क्रियाएँ बिना किसी प्रकाश के सिद्ध नहीं हो सकतीं। जिस प्रकाश से ये क्रियाएँ प्रकाशित होती है जिस प्रकाशके अन्तर्गत होती हैं उस प्रकाश में कभी कोई क्रिया हुई नहीं होती नहीं होगी नहीं हो सकती नहीं और होनी सम्भव भी नहीं। ऐसा वह तत्त्व सब का आधार प्रकाशक और स्वयं प्रकाशस्वरूप है। वह सब में रहता हुआ भी कुछ नहीं करता। उस तत्त्व की तरफ लक्ष्य कराने में ही उपर्युक्त इन तेरह क्रियाओँ का तात्पर्य है।

हम ने किसी भी कर्म की कार्य प्रणाली का अध्ययन पिछले अध्याय में किया है, जिस के अनुसार ज्ञान इंद्रियां जो भी ग्रहण करती है वो मन को बताती है, मन अपने संस्कार एवम पूर्व में लिए हुये निर्णय के अनुसार कर्म को अच्छा या खराब बताते हुए उस मे कुछ कार्य निर्णय के लिए बुद्धि को भेजता है। बुद्धि उस के लाभ हानि का विश्लेषण कर के चेतन को देती है जो और कोई नही आप का अहम, मोह और कामना है। यह चेतन ही तेरा मेरा करता है और किसी भी कार्य का कर्ता बनता है।

तत्व पुरुष में यह चेतन नही होने से कर्तृत्व या भोक्तत्व भाव नही होता। अतः वो इन सब क्रिया को प्रकृति की क्रिया मानता है।

हम ने यह भी पढा है कि सृष्टि यज्ञ चक्र का संचालन प्रकृति स्वयं माया एवम अपने त्रियामी गुणों यानि सत,रज एवम तम से परमात्मा के आधीन हो कर करती है। जीव माया से मोहित हो कर कर्मबंधन में फस कर अपने को कर्ता मानता है। तत्वविद इस तथ्य को जानता है इसलिए उस के समस्त कर्म अकर्म होते है।

अतः तत्वविद कर्म सन्यास योगी सदाहरण जीव की भांति समस्त कार्य करता दिखता है किन्तु आसक्ति एवम अहम भाव न होने से उस के कर्म भी दिव्य कर्म होते है और वो भी कर्म बंधन मुक्त रहता है।

कोई पुरुष ज्ञानी ही जाए, तो भी श्वांसोच्छवास आदि इंद्रियाओ के कर्म उस की इंद्रियां करती ही रहेगी। और तो क्या, पल भर जीवित रहना भी कर्म ही है। फिर यह भेद कहाँ रह गया कि सन्यास मार्ग का ज्ञानी पुरुष को कर्म नहीं करना पड़ता और कर्मयोगी ही कर्म करता है। कर्म तो दोनों को करना पड़ता है पर अहंकार युक्त आसक्ति छूट जाने से वे ही कर्म बंधक नही होते, इस कारण आसक्ति का छोड़ना ही इस का मुख्य तत्व है।

ज्ञानी पुरुष शरीर की समस्त क्रियाओं को प्रकृति की मानता है और अपने को पृथक रखता है। इस का अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि वह व्यवहार में कुछ अजूबा करता होगा। वह भी सामान्य व्यक्ति की भांति ही चलता, रहता, देखता, सूंघता और खाता है। उस को कोई प्रिय भी लगता है, अतः हम कह सकते है कि प्रकृति और जीव में ज्ञानी अन्य पुरुषो की भांति ही दिखता है किंतु अन्य पुरुषो से अलग वह कामना, आसक्ति, लोभ, मोह और अहम से परे होता है। हम कह सकते है कि वह मुक्त होता है किंतु रिक्त नही। अर्जुन भी योगेश्वर कृष्ण को प्रिय थे। क्योंकि वह अपनी भावनाओं और विकारों से मुक्त होता है, इसलिए वह कर्तव्य कर्म को भी जानता है। कर्तव्य कर्म के पालन के लिए शिक्षा, योग्यता, अभ्यास और मेहनत भी करता है। इस लिए कर्मयोगी निठल्ले या आलस्य रख कर चिलम पीने वाला कदापि नही होता।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.08-09।।

।। गीता पुनरावलोकन एवम स्थितप्रज्ञ।। विशेष 5.8-9।।

जीव का मुख्य धैय मोक्ष है। हमारे पूर्वजों एवम ऋषि– मुनियो के वर्षो के चिन्तन एवम मनन का यही निष्कर्ष है कि यह सृष्टि एवम ब्रह्मांड उस परमब्रह्म का संज्ञान है जिस का कोई स्वरूप भी नही है, जो नित्य है, अजन्मा है, दृष्टा है, अकर्ता है। यह जीव उसी का अंश है, प्रकृति भी उसी की अंश है। इस लिये किसी ने कहा भी है। ब्रह्म ही ब्रह्म के साथ खेलता है।

मोक्ष को लेकर प्रवृति एवम निवृति के दो मार्ग बताये है, जिन्हें हम कर्मयोग एवम सांख्य अर्थात सन्यास योग भी कहते है। प्रकृति क्रिया शील है जब वह जीव के चारो ओर अपनी क्रिया का मोहक रूप में नृत्य करती है तो जीव भ्रमित हो कर कि वह परमब्रह्म का अंश है, प्रकृति से सम्बन्ध जोड़ लेता और उस सभी क्रियाओं का स्वयं को कर्ता भी मान लेता है और प्रकृति के कर्म के फल में कामना, आसक्ति एवम मोह भी पैदा कर लेता है। जिस के फलस्वरूप वह कर्म फल के बंधन में फसता चला जाता है और जन्म–मरण के विभिन्न योनियों को भोगता हुआ दुख को प्राप्त होता है, इसे ही अज्ञान कहा गया है।

सृष्टि की रचना परमब्रह्म का अज्ञान ही है जिस में परमब्रह्म ने एक से अनेक होने की रचना की। रचियता के तौर पर ब्रह्मा ने रचना है बाद कहा कि जो प्रकृति के अधिदेव है उन का कार्य इस रचना को चलाना है और जीव एवम मनुष्य उन के लिये यज्ञ अर्थात कर्म करे और जो भी शेष बचे उस से निर्वाह करे। यह अधिदेव जितना भी उन्हें प्राप्त होगा उस से अधिक लौटा देंगे। इस मे संग्रह या अधिपत्य की कोई बात नही थी, किन्तु मनुष्य ने सृष्टि के नियम विरुद्ध कर्म से अधिक संग्रह एवम अधिपत्य जमाना शुरू कर दिया जिस से इस सृष्टि की रचना में असंतुलन पैदा हो जाता है और प्रकृति बीच बीच मे अपने को संतुलित करती है। यहाँ अधिकार को ले कर मतभेद भी पैदा हो गए।

प्रवृति का अर्थ है कि कर्म तो किया जाए किंतु उस के फल की आशा को छोड़ दे। इस से शनैः शनैः कर्म का बन्धन कम होगा और ज्ञान की प्राप्ति का मार्ग शुरू होगा। निवृति का अर्थ है कि जिस कर्म से बंधन होता है उस के कर्ता भाव को ही त्याग दे, जिस से कर्म ही नही होगा तो फल भी मिलेगा। अर्थात आईने में जमी कर्म की आसक्ति एवम कर्ता की धूल को साफ करें तो कम से कम अपना चेहरा तो नजर आए।

मनुष्य जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, सन्यास एवम वानप्रस्थ चार भाग में बांटा गया है। ज्ञान एवम अध्ययन के बाद निष्काम हो कर गृहस्थ आश्रम को सामाजिक व्यवस्था का आधार माना गया है, जिस से अन्य आश्रम का व्यवस्था भी चले और सृष्टि यज्ञ चक्र भी। हिन्दू देवताओं में अधिकतर देवी देवता गृहस्थ आश्रम में ही आते है।

अतः गृहस्थ होना या न होना सांख्य या सन्यास आश्रम का भाग नही है। अनेक ऋषि मुनि भी गृहस्थ ही थे। मूल विचार है कि कर्मो का त्याग या कर्मो की आसक्ति का त्याग। गीता कर्म के त्याग की अपेक्षा कर्म की आसक्ति के त्याग को महत्व देती है, इसलिये यह ज्ञान युद्ध भूमि की पृष्ठभूमि में दिया गया जिस से कर्तव्य धर्म को भी परिभाषित किया जा सके और किस प्रकार जीव भयमुक्त हो मोह, आसक्ति, कामना और अहम से मुक्त हो कर ज्ञान को प्राप्त कर सके। स्वयं परमब्रह्म भी दिव्य जन्म एवम दिव्य कर्म से इस सृष्टि यज्ञ चक्र की रक्षा करता है।

आईने की जमी धूल से समझ मे आता है कि कितने चेहरे है इंसान के। पारिवारिक माँ–पिता, भाई–बहन, पति–पत्नी और पुत्र–पुत्री और भी अनेक रिश्ते इत्यादि इत्यादि। व्यावसायिक व्यापारी, CA, Dr, वकील, इंजीनियर, किसान, मजदूर आदि आदि और सामाजिक राजा–प्रजा, नेता, अधिकारी, पुलिस, सेना और परमार्थ में बाबा, योगी, सन्यासी, प्रवचक, कीर्तन मंडली, पुजारी आदि आदि। फिर जब प्रकृति भी एक है तो मेरा मेरा करते करते गाते रहना, मेरा परिवार, मेरा घर, मेरा धर्म, मेरा समाज, मेरा देश आदि आदि। पूरा जीवन में ज्ञान का अर्थ है कि कैसे हमारी लौकिक सुविधा में , परिवार में, समाज में सम्मान आदि में वृद्धि हो। जब चित्तशुद्धी की प्रत्येक क्रिया और अध्यात्म सांसारिक होगा तो लाभ भी सांसारिक होगा। मंदिर में पूजा से ले कर यज्ञ, दान और धर्म इस प्रकृति के शरीर के लिए होंगे तो आत्मशुद्धि की बात करना ही बेमानी होगी। किन्तु यह धूल जब तक ही है जब तक जीवन है, प्रकृति कुछ भी नही जोड़ती, जो जैसा जन्म लेता है, वह वैसा ही विदा होता है, साथ मे उस के संस्कार, कर्म की आसक्ति, कामना और अहम की धूल रहती है जो पुनः पुनः जन्म और मृत्यु तक चलती है। इसी धूल को साफ करना ही निर्वाण या मोक्ष का मार्ग है। संसार मे अज्ञान में कोई अपने चेहरे की धूल भी नही देखता, बस भागता रहता है।

जन्म–मरण का 84 लाख योनियों का हिसाब, कर्म संस्कार, उस के फलों का बंधन से मुक्ति के दो मार्ग बताये गए। जीव का कर्तृत्व भाव एवम भोक्तत्व भाव को यदि breaking the chain के अनुरूप किसी एक को तोड़ दे तो दूसरा स्वतः ही टूट जाएगा। कर्ता भाव को तोड़ना कठिन है क्योंकि कर्म जीवन की अनिवार्य प्रक्रिया है। इस के उचित स्थान, संसार का त्याग, अभ्यास एवम जो स्वयं ब्रह्म में लीन है, ऐसे गुरु की आवश्यकता है। तो अपेक्षाकृत सरल मार्ग तो भोक्तत्व भाव तो तोड़ना है, जिस में कर्म तो करते रहो किन्तु उस की आसक्ति को तोड़ दो। क्योंकि किसी भी कर्म में पांच तत्व होते है तो कर्म होता है, इसलिये फल पर किसी का अधिकार नही है। भगवान श्री कृष्ण भी कहते है कि

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।2.47।।

अतः अपना अधिकार क्षेत्र सिर्फ कर्म तक सीमित करो और उस के फल की आशा छोड़ दो। यहाँ यह भी स्पष्ट कर ही देते है कि निष्क्रियता भी कर्म है और आलस्य एवम निंद्रा भी।अतः यह कर्म विहीन होना भी चाहे तो नही हो सकते, इसलिये अपने अधिकार क्षेत्र के कर्म को पूर्ण दक्षता, ईमानदारी एवम लग्न से पूरी क्षमता के साथ करना चाहिये। क्योंकि जिस मोक्ष के लिये प्रयास दोनो ही मार्ग में किया जा रहा है वह आलसी, कामचोर एवम निंद्रा ले कर करने वालो के लिये नही है। परीक्षा में उतीर्ण होना है तो मेहनत भी सही दिशा में करना आवश्यक है।

जीव में मोह, कामना एवम आसक्ति के साथ कर्ता भाव है, वह अपने को इन सब के साथ सुरक्षित महसूस करता है। जब भी इस पर कोई प्रहार होता है तो असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। यह असुरक्षा के प्रकृति से सम्बन्ध विच्छेद की। अपने मोह की। भय उत्पन्न हो जाता है कि यह छूट गया तो पता नही क्या होगा। अर्जुन को भी मोह का भय था। यही भय हम सब मे है।

जन्म लेने से पूर्व और बाद में भी यह धरती, गगन, वायु, जल, अग्नि, पेड़, पौधे, पक्षी, पशु व्यक्ति सभी कुछ है और मरने के बाद भी रहेगा। किन्तु आंख खुलते ही माँ–पिता, भाई बहन जैसे रिश्ते बन्ध जाते है, फिर व्यवसाय, पत्नी–पुत्र, घर आदि। पूरी पृथ्वी पर हम सिर्फ वो जगह देखते है जिस पर मेरा नाम या सम्बन्ध हो। यही मोह है, मान–सम्मान, कुल, संपत्ति, रिश्ते नाते आदि आदि। इन के लिये कर्म किये जाते है और यही मोह अर्जुन को भी था। इस के छूटने के भय बहुत बड़ा है। कौन भला सोच सकता है कि भक्ति में यह सब छोड़ कर बाबा बनना है। इन का मोह, कामना, आसक्ति, अहम यही त्यागने वाला संशय रहित, भय रहित योगी ही स्थितप्रज्ञ है। वह भी प्रकृति की अनेक क्रियाओं में अपने को भी उसी रूप में देखता है।

कितना भी वेद, गीता या धार्मिक ग्रन्थ पढ़े किन्तु यह मोह का भय नही जाता। तो breaking the chain से जब ज्ञान उत्पन्न होगा तो उसे भी अज्ञान बना देते है। आसक्ति तो नही है किंतु कर्ता भाव बना रहना चाहिए, संस्था में लोकसंग्रह के लिये कर्म तो करे किन्तु कुर्सी या पद ले लिए भी जोड़ तोड़ जारी करते रहना चाहिए। मोक्ष के लिये प्रवचन तो दे किन्तु इस ले सम्मान हेतु आश्रम, आसन और साधन बने रहने चाहिए। यदि कर्मयोग या सांख्य योग का आधार ही सांसारिक सुखों के लिये हो या मन, बुद्धि एवम चेतन आशंका, आसक्ति एवम अहम के कारण भयभीत रहे तो ज्ञान की प्राप्ति में त्याग नही, आडंबर ज्यादा होता है। शारीरिक वेशभूषा, उत्तम वचन, यज्ञ, पूजा एवम शाब्दिक ज्ञान में रावण भी महान ज्ञानी था, किन्तु स्थितप्रज्ञ नही।

कर्मयोग हो या सांख्य योग, जब तक संसार से बने रहने का भय है तब तक अज्ञान बना ही रहता है। यही अज्ञान अधिकार पैदा करता है कि मेरा कार्यक्षेत्र यही है। पिता पुत्र पालन में, माँ ममता में, सन्त प्रवचन में और मेरा जैसा अज्ञानी पुरुष गीता जैसे ग्रन्थ द्वारा निर्गुणकार को सगुणाकार कर के लिखना अपना अधिकार समझता है। प्रकृति अपना कार्य करती रहती है। चलचित्र में पटल पर आया कोई भी चित्र स्थायी नही होता वैसे ही कोई भी अधिकार स्थायी नही होता है। काल अपना कार्य करता रहता है, चित्र बनते और बिगड़ते रहते है। परमब्रह्म ने सृष्टि की रचना भी स्थायी नही की, यह भी शनैः शनैः फैलती जाती है और सिकुड़ का मिट जाती है, फिर पुनः सिकुड़ कर फैलती है। काल की गणना कौन कर सकता है।

जब कर्म योग या सांख्य योग से ज्ञान तत्व का उदय होता है, तो आईने की धूल साफ होने लगती है। अतः भय से मुक्त होने से ज्ञान होता है जिसे तत्व दर्शन कहते है। भय युक्त को तो अज्ञान ही होगा। तत्वदर्शन का अर्थ ही है कि जीव के भ्रम का स्वरूप नष्ट हो गया, उसे ज्ञान हो गया कि वह अकर्ता, नित्य एवम दृष्टा है, वह परमब्रह्म का अंश है। फिर उस के कर्म दिव्य हो जाते है, उस के कर्म अकर्म कहे जाते है।

ज्ञान के विषय मे यह भी समझना जरूरी है कि ध्यान से मन, बुद्धि एवम चेतना पर नियंत्रण प्राप्त किया जाता है किंतु ध्यान कर्ता को ज्ञात रहता है कि वह ध्यान लगा रहा है, अर्थात कर्ता भाव बना रहता है। समग्र भाव जिस में जीव परमब्रह्म से जुड़ जाए वह निदिध्यासन से अपनी वृति परमब्रह्म से जोड़ने से होगी।

जगत–जीव–ईश्वर जब पृथक पृथक दिखते है तो यह द्वेत का ज्ञान है, किन्तु ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाये यह अद्वेत का ज्ञान है। वेदान्त कहता है तत त्वमसि और अहम ब्रह्मास्मि। जो प्रत्यक्ष है वह भी तुम हो और मै भी ब्रह्म हूँ। अर्थात अब दूसरा कोई बचा ही नही।

यही स्थिति स्थितप्रज्ञ की है। उस की वृत्ति निदिध्यासन द्वारा परमब्रह्म से जुड़ी है, उस मे न कर्ता भाव है और न ही भोक्ता भाव। उस का सम्बंध जैसे ही प्रकृति से छूट कर परमब्रह्म से जुड़ता है, उस के प्रारब्ध एवम संचित कर्म भी छूट जाते है। कुम्हार के चाक को एक बार घुमाने के बाद वह अपनी गति में कुछ समय तक स्वतः ही घूमता है, वैसे ही स्थितप्रज्ञ मनुष्य अपना शेष जीवन लोकसंग्रह हेतु व्यतीत करता है। वह असामान्य होने पर भी सामान्य जैसा ही दिखता है। वह जन मानस की भांति सोता है, जगता है, खाता है, बोलता है, चलता है और

व्यवहार भी करता है किंतु उस के समस्त कर्म दिव्य है जिस में न कर्तृत्त्व है और न ही भोक्तत्व। वह समभाव में न दुखी होता है और न ही सुखी। वह निर्भय है, ह्रदय से संशय रहित है, निर्द्वन्द्व, शांत और ज्ञानी होता है।

स्थितप्रज्ञ अद्वेत भाव मे जीता है, रहता है, उस के सभी कर्म अकर्म हो गए। उसे कौन पहचान सकता है क्योंकि जब वह दिखता है तो सामान्य ही दिखता है। सभी सारथी, कभी सखा तो कभी गुरु और कभी कर्मयोद्धा आदि आदि।

निष्काम या सन्यास योग में अधिकार जो कर्म के बताए गए है, स्थितप्रज्ञ होने से समाप्त हो जाते है। यह ज्ञान की वह अवस्था है जिस में न छूटने का भय है, न पाने का। एकमाद्वितीय की वह अवस्था जिस में ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नही हो, स्थितप्रज्ञ की अवस्था है। जिस का चित्त, अंतःकरण शुद्ध–बुद्ध एवम परमानन्दमय हो, वही स्थितप्रज्ञ की स्थिति को भी प्राप्त करता है।

अंत मे यही कहना है कि जो ज्ञान अनुभव एवम अभ्यास से प्राप्त न किया गया हो, वह ब्रह्म की सीमा तक पहुचे श्रेष्ठ गुरु का ज्ञान है। यह जब तक स्वयं अभ्यास एवम भय से मुक्त हो कर प्राप्त न किया जाए, सांसारिक कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव मे मिल कर अज्ञान ही रहता है। एकमाद्वितीय ब्रह्म में विलीन भला किस को ज्ञान देगा जब द्वितीय है ही नही। यह तो मार्ग है, जिस पर जीव को स्वयं चलना है और स्वयं को ही प्राप्त होना है।

स्थितप्रज्ञ की स्थिति को प्राप्त करना, संभव नही तो असंभव भी नही। संसार मे उच्च कोटि के जीवन को जीने वाले महापुरुष, दार्शनिक, वैज्ञानिक या उद्योगपति , ऋषि, मुनि सभी के जीवन मे जो भी गुण उन को महान बनाता है, वह गुण स्थितप्रज्ञ की ओर ही जाता है। निष्काम कर्म एकाग्रता एवम दक्षता के साथ कर्म को प्रेरित करता है। हमारे अधिकार क्षेत्र में यदि कुछ है तो वह है अभ्यास, लग्न एवम संयतेंद्रीय द्वारा कर्म को करना। यही ज्ञान का मार्ग है, कहते है जब कोहरा घना हो और रास्ता नही दिखे तो भी सही मार्ग पर कदम बढ़ाते जाओ, मंजिल तक पहुच ही जाओगे।

यह प्रकृति अत्यंत मनोहर, आनंददायक, मन को सुख देने वाली है, जीव प्रकृति से बंधा है किंतु नित्य नही है। जो आज है वह कल नही रहेगा, जो कल आएगा वह भी स्थिर नहीं है। हमे अपने वैराग्य को पहचानना है। बचपन से ले कर न जाने कितने लोगो, खिलौनों, सहपाठियों और खाने की कितनी वस्तुओ से मिले। सब अब वैराग्य से छूट गई। यात्रा के दौरान किसी स्थान को जब देखते है तो अत्यंत आनंद आता है किंतु वैराग्य से हम उस स्थान पर रमण या बस नही जाते। वापस अपने स्थान पर पहुंच कर सकून को प्राप्त करते है। यह जीव का मोक्ष या मुक्ति है। आत्मा की यात्रा प्रकृति के संयोग से शुरू होती है, इस का आनंद एक यात्री की भांति लेना चाहिए, फिर अपने स्थान वापस लौटना है तो स्थान में कुछ नही चाहिए। यदि भटक गए तो जन्म जन्मांतर तक रास्ता ही खोजते रहेंगे।

।। हरि ॐ तत सत ।। 5. 8-9 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.10॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

"brahmaṇy ādhāya karmāṇi,
saṅgaṁ tyaktvā karoti yaḥ..।

lipyate na sa pāpena,
padma-patram ivāmbhasā"..।।

भावार्थ :

"कर्म–योगी" सभी कर्म–फ़लों को परमात्मा को समर्पित कर के निष्काम भाव से कर्म करता है, तो उस को पाप–कर्म कभी स्पर्श नही कर पाते है, जिस प्रकार कमल का पत्ता जल को स्पर्श नही कर पाता है। (१०)

Meaning:

Having offered all actions to the eternal essence, and having cast off attachments, he who performs actions does not get tainted by sins, just like water does not taint a lotus leaf.

Explanation:

Previously, we came across the vision of one who has realized the self. He knows that he is not the doer of all his actions. But what about the one who has not realized the self, and who is still working to sublimate his selfish desires? What is his vision?

In this shloka, Shri Krishna says that the person who has not realized the self (that includes most of us) offers all actions in a spirit of devotion to Ishvara. Shri Krishna reiterates that if one has selfish desires, karma yoga is the ideal path to follow. The karma yogi works for a higher ideal such as Ishvara, but one who does not follow karma yoga works for the ego.

Shri Krishna brings Arjuna back to karma yoga with this shloka. Arjuna harbours desires, therefore Shri Krishna does not want him to jump straight into the yoga of renunciation, which is a totally different level.

Now, let's go a little deeper into the topic of attachment. Attachment can happen at four levels : attachment to the result of an action (I want a reward for singing this song), attachment to the action (I will sing a song only in my way), attachment to the sense of doership (I am singing this song) and attachment to the sense of non-doership (By not singing the song, I am the non-singer of this song). The first three are relatively easier to comprehend. The fourth one arises when one has not properly understood the notion of akarma or inaction from the fourth chapter.

So therefore, the karma yogi strives to transcend all four levels of attachment by offering results, actions, doership and non-doership to Ishvara. When he acts in the material world with such a vision, he does not accumulate any further desires, just like a lotus leaf does not get wet even though growing in water.

With the help of the beautiful analogy of the lotus leaf, Shree Krishna says that just as it floats atop the surface of the lake, but does not allow itself to be wetted by the water, similarly, the karm yogis remain untouched by sin, although performing all kinds of works, because they perform their works in divine consciousness.

।। हिंदी समीक्षा ।।

दो पूर्ववर्ती श्लोकों में वर्णित ज्ञान ब्रह्म स्वरूप में रमे हुए तत्त्ववित् पुरुषों के लिये सत्य हो सकता है परन्तु निरहंकार और अनासक्ति का जीवन सर्व सामान्य जनों के लिये सुलभ नहीं होता। पूर्णत्व के साधकों को यही कठिनाई आती है। जो साधकगण गीता ज्ञान को जीना चाहते हैं और न कि तत्प्रतिपादित सिद्धान्तों की केवल चर्चा करना उन की यही समस्या होती है कि किस प्रकार वे अहंकार का त्याग करें।

इस समस्या का निराकरण विचाराधीन श्लोक में किया गया है जिस के द्वारा कोई भी अनासक्त जीवन व्यतीत कर सकता है। ब्रह्म में अर्पण कर के मन का पूर्णतया अनासक्त होना असंभव है और यही तथ्य साधक लोग नहीं जानते। जब तक मन का अस्तित्त्व रहेगा तब तक वह किसी न किसी वस्तु के साथ आसक्त रहेगा। इसलिये परमार्थ सत्य को पहचान कर उस के साथ तादात्म्य रखने का प्रयत्न करना ही मिथ्या वस्तुओं के साथ की आसक्ति को त्यागने का एकमात्र उपाय है।

इस कार्य की शुरुवात व्यवहारिक जीवन मे यह मान कर भी कर सकते है कि हम यह सोचना शुरू कर दे कि जो भी कार्य करता है वो ईश्वर करता है, हम निमित मात्र है। जीव और प्रकृति का रचयिता परमब्रह्म ही है। सब प्रकृति की क्रिया करती है, जीव तो अकर्ता है। अतः जब जीव कुछ करता ही नही तो कामना कैसी और आसक्ति कैसी। हम तो परमब्रह्म के निमित्त हो सिर्फ उन कर्मो को करे, जिसे वह हम से करवाता है, वह स्वामी और हम सेवक । यही आसक्ति त्याग की प्रथम सीढ़ी होगी। जब आप किसी की चाकरी करते है या किसी के अधीन कार्य करते है तो आप को उस कार्य मे कोई आसक्ति या मोह नही होता क्योंकि उस का फल स्वामी को जाएगा, आप का प्रतिफल तो स्वामी ने निश्चित कर दिया है। जब स्वामी के प्रति निष्ठा एवम श्रद्धा हो तो वह काम प्रेम पूर्वक पूर्ण दक्षता से भी करते है।

अतः जो तत्त्वज्ञानी नहीं है और कर्मयोग में लगा हुआ है (यानी) जो स्वामी के लिये कर्म करनेवाले नौकर की भाँति मैं ईश्वर के लिये करता हूँ इस भाव से सब कर्मों को ईश्वर में अर्पण कर के यहाँ तक कि मोक्षरूप फल की भी आसक्ति छोड़ कर कर्म करता है। तो आसक्त रहने की प्रथम सीढ़ी चढ़ने लगता है।

किसी भी कार्य मे अहम की भूमिका कर्तृत्व भाव को जोड़ती है। जब शरणागत भाव हो तो अहम भी कमजोर हो जाता है। जिस कर्म में मेरा मेरा नही है, वह फल भी भला कैसे देगा।

जब बात सीधे तरीके से समझ मे आये तो उसे उदाहरण या तुलनात्मक तरीके से बताई जाती है, यहां स्वामी के प्रेम व श्रद्धा से समर्पित भाव से जो व्यक्ति कर्म करता है वह जैसे कमल का पत्ता जल में रहकर भी उस से लिप्त नहीं होता वैसे ही पापों से लिप्त नहीं होता अर्थात इस संसार मे उस की प्रवृति शनैः शनैः अनासक्ति की ओर बढ़ने लगती है।

एक सांसारिक व्यक्ति के धन कमाने के व्यापार या व्यवसाय करना आवश्यक है, फिर गृहस्थ होने नाते और देश और समाज के नियम और कानून के अंतर्गत उसे अपना व्यवहार भी रखना पड़ता है। बच्चो की शिक्षा, पारिवारिक जिम्मेदारियां उसे वे दिन रात कर्म में उलझाए रखती है, इसलिए उस के पास शास्त्रों को अध्ययन या ध्यान आदि का समय या तो मिलता नही और मिलता भी है तो सीमित। ऐसी दशा में वह अक्सर मंदिरो, प्रवचनों, दान, यज्ञ और कर्म कांडो को सहारा लेता है। दुर्भाग्य से योग्य गुरु या व्यक्ति न मिलने से, जिन्हे वह ज्ञानी समझ कर पूजता है, वे अज्ञानी पुरुष भी स्वयं कामना, आसक्ति, मोह, लोभ और अहम में ग्रसित हो कर उसे सांसारिक सुखों के और उस के सांसारिक कष्टों के निवारण के उपाय बताता है। इस से जीव का कोई उद्धार नही होता। इस के निष्काम और निर्लिप्त कर्मयोगी बनने के सरल उपाय यही है कि जीव अपने सारे कृत्य भगवद अर्पण करते हुए करे। क्योंकि कार्य भगवद अर्पण भाव से किए जाएंगे तो इस भाव स्वामी और सेवक का रहेगा तथा जीव को कर्म बन्धन भी नही होगा। ब्रह्मा जी ने कहा है कि सृष्टि यज्ञ चक्र में जीव को अधिक से अधिक प्रकृति से व्यवहार देने का करना चाहिए और जितना जीवन, व्यापार, व्यवसाय और सामाजिक पद और प्रतिष्ठा के लिए

आवश्यक है, वही संग्रह करना चाहिए। जीवन में आवश्यकता से अधिक का संग्रह का कोई उपयोग नहीं, इसलिए जब अधिक धन का उपार्जन हो तो श्रेष्ठ धनी लोग उसे अन्य लोगो में वितरित सेवा कार्य द्वारा कर देते है। वे अपने धन के स्वामी नही होते और हमेशा उसे ट्रस्टी की भांति उपयोग करते है। यही कर्मयोगी के निर्लिप्त कर्म उस कमल के पत्ते की भांति है जिस पर पानी आदि कुछ भी नही ठहरता। किंतु यदि मन, बुद्धि और आत्मा दूषित और स्वार्थ से परिपूर्ण हो तो जीव के धर्म, अध्ययन, कर्म और व्यवहार सभी कामना, आसक्ति, मोह, लोभ और अहम के होंगे। फिर कौन सा ऐसा जीव शास्त्रों को सही तरीके से अध्ययन कर पाएगा या रुचि रखेगा, जिन में त्याग ही त्याग सिखाया जाता है।

गीता में कामना, आसक्ति, मोह, लोभ, राग या द्वैष और अहम के त्याग की बात कही गई है, यह मनुष्य का अंतरंग स्वभाव या प्रवृति में होना चाहिए। क्षत्रिय स्वभाव के अर्जुन को यदि मोह स्वजनों को देख कर होता है और वह युद्ध त्याग कर सन्यासी बन भी जाए, उस का क्षत्रिय स्वभाव उस के साथ रहेगा। बाहरी त्याग को हम त्याग नही कह सकते, इसी त्याग अंतरंग में जब तक नही आता, हम सेवक की भांति अपने समस्त कार्य प्रभु को अर्पित करते हुए चले, जिसे से कर्म से कोई आसक्ति, मोह,कामना या अहम आदि न उपजे और यदि उपजे भी तो भी प्रभु को ही समर्पित हो कर नष्ट हो जाए।

व्यवहारिक जीवन मे निष्काम कर्मयोगी बनने के सामान्य जन के लिये सरल मार्ग में और क्या कदम होने चाहिए, आगे के श्लोकों में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 5.10।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.11॥

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संग त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

"kāyena manasā buddhyā,
kevalair indriyair api..।
yoginaḥ karma kurvanti,
saṅgaṁ tyaktvātma-śuddhaye"..।।

भावार्थ :

"कर्म–योगी" निष्काम भाव से शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा केवल आत्मा की शुद्धि के लिए ही कर्म करते हैं। (११)

Meaning:

Solely with body, mind, intellect and senses does the seeker perform actions, casting off all attachment, for the purification of the self.

Explanation:

In the previous shloka, Shri Krishna explained how a karma yogi offers his actions to Ishvara. But how exactly does he do that? Shri Krishna in this shloka says that the karma yogi continuously keeps the thought that the body, mind, intellect and senses - all these are the property of Ishvara, given by Ishvara. Therefore, all the work done is for the benefit for Ishvara, and not for the ego.

The fact is that God needs nothing from us. He is the Supreme Lord of everything that exists and is perfect and complete in Himself. What can a tiny soul offer to the Almighty God, that God does not already possess?

There is one activity that is in our hands and not in God's hands; that is the purification of our own heart (mind and intellect). When we purify our heart and engage it in devotion to God, it pleases Him more than anything else.

Saint Kabir states: "If you are desirous of quickly cleansing your heart, cultivate the company of a critic. When you tolerate his acrimonious words, your heart will be cleansed without water and soap."

The Gita teaches that the body, mind, intellect and senses are not really "ours". But due to our conditioning, we come to think that they are ours. We then begin to do things for their benefit. For example, the tongue likes sweet food, so we undertake actions to satisfy it by eating things that may not be healthy from a long term perspective. When actions are done for the satisfaction of body, mind, intellect and senses, the sense of "mine-ness" develops and the ego gets strengthened. We then begin to serve the ego.

In this regard, let us recall example of the CFO we had encountered a while ago. As long as the CFO thinks that she is working for company, things will go smoothly. But if she begins to think that working for herself, starts misusing the company's funds as her own funds, she gets into trouble. Similarly, a karma yogi treats his body, mind, intellect and senses as instruments of Ishvara. When that attitude comes, all actions and their results also get offered to Ishvara. In this manner, the seeker detaches himself from the body, mind, intellect and senses from the ego, and attaches them to Ishvara. This is what is meant by "casting off all attachment".

So here Krishna says Karma yoga can be at any level; kāyikam i.e. by phisically, vāchikam i.e. by word or speech or manasam i.e. by thoughts according to one's convenience. Therefore nobody can say I cannot do karma yoga, because in one way or other, it is possible, because we have got kāyikam, vācikam or mānasam; therefore Krishna says: they perform physical action, when they can afford that; those people who cannot afford kāyēna, they can do vācha; so that is not said but we can supply; vācha, verbal action, like nāma japa, or pārāyanam, they all will come under vāk karma; when a person cannot do kāyikam karma, not that when the body is well off, out of laziness.

One of the worst enemy of the human being is laziness. I do not say that: śāstrām itself says that: ālasyam him manuṣyāṇām śarīrasto mahān ripu; the greatest enemy of a human being which is there right from birth itself and which is there in your physical body is ālasyam. Through all these organs, yōginaḥ karma kurvanti.

Kevalaiḥ means without I or self or ego, is important, because when we get success often we claim the success as our accomplishment; it can go to our head; I did, I did; failure if it comes, we blame others; be humble in success. It also without the anxiety with regard to future; that is the main

indication of karma yoga; no anxiety, no tension, no stress and and all these sadhanas are meant for what atma śuddhi; here atma means mind; therefore atma suddhi means citta śuddhi or mana śuddhi.

Now, let's examine the second part of shloka where Shri Krishna talks about purification of self. What happens when karma yogi continues to dedicate actions to Ishvara? His mind gets cleared of all selfish desire, and his ego begins to lose its power. The end result is that the mind is purified of all vaasanaas - which is what is meant by "self" in the shloka. Purification of mind brings the karmayogi closer to self-realization.

Atmaśuddaye means purity and all these sadhanas are meant for what atma śuddhi; here atma means mind; therefore ātma suddhi means citta śuddhi or mana śuddhi; not the purity of atma; we need not purify the atma; Why? atma is ever pure, therefore in this context, ātma should not be understood as satcidāṇanda- nithya- śuddha- ātma, it is not the caitanya- rūpa- ātma; but it is antakaraṇa rūpa ātma; that is why Gītā is confusing, because one word is used in different meaning; ātma sometimes means satcidṇānda ātma; sometimes it means mind; in this context, it is mind; sometimes it is the physical body also; jithātmana praśanthasya paramātma samāhitaḥ; there ātma means the physical body also; so which meaning we should take we should know; that is why we have developed a special method of studying the scriptural literature;

।। हिंदी समीक्षा ।।

तत्वदर्शी पुरुष किस प्रकार कार्य करता है यह हम ने श्लोक 8-9 में पढ़ा। अध्याय 3 में श्लोक 3.27 एवम 3.28 में भी तत्वदर्शी पुरुष इंद्रियाओ मन बुद्धि से शारीरिक क्रियाओं को किस प्रकार अनाशक्त भाव से देखता है, यह भी पढा।प्रस्तुत श्लोक कर्मयोगी के बारे में वो किस प्रकार कार्य करता है अतः इस को जानने के लिये हम कुछ उदाहरण लेते है।

1. मान लीजिये आप को मिठाई खाने को मिले तो आप आनंद से खाते है, किंतु यदि इस के साथ अधिक मिठाई या विशिष्ठ मिठाई की कामना करें तो यह आसक्ति है।

2. आप को किसी कार्य की जिम्मेदारी दी गई। कार्य पूर्ण होने पर आप यदि आप यह इच्छा रखते है कि लोग आप को जाने एवम सराहना करे तो यह अहम एवम आसक्ति है।

3 आप एक डॉक्टर है, आप के पास एक घायल व्यक्ति का केस आता है जिस को बचाने के लिए आप जी तोड़ मेहनत करते है और मरीज मर जाता है। अब यदि आप को भय लगता है कि आप की बदनामी होगी। यह भी आसक्ति है।

4 . आप को किसी समारोह में बुलाया गया। मेजबान किसी कारणों से आप को समय नही दे पा रहा और यदि आप को दुख एवम क्रोध आता है, आप अपने आप को अपमानित महसूस करते है। यह भी अहम एवम आसक्ति है।

5. आप तीर्थ या मंदिर जाते है, वहां ईश्वर के दर्शन और पूजा पाठ विधि पूर्वक करते है और प्रार्थना में ईश्वर से अपने और परिवार के सुख समृद्धि, उच्च पद या शत्रु नाश मांगते है तो भी यह मोह और आसक्ति ही है।

अनुचित नही होगा कि भगवान राम ने भी रावण युद्ध से पूर्व शिव की पूजा की थी एवम रावण वध से पूर्व अगस्त मुनि के निर्देश से आदित्य नारायण की पूजा की थी। किंतु यह लक्ष्य की सफलता के लिए था, उन्हे कोई राज्य

प्राप्ति या रावण के प्रति द्वैष नही था। इसलिए वे रावण को क्षमा प्रदान करने को हमेशा तैयार थे यदि वह अपनी गलती मान कर सीता को लौटा देता। उन्हे रावण का राज्य भी नही चाहिए था। यही कर्मयोगी का शुद्ध कर्म होता है।

ऐसे हजारों उदाहरण हो सकते है। कर्मयोगी इन्हें प्रकृति की क्रिया कर्ता एवम भोक्ता भाव में नही समझ कर कर्म करता है। वो निमित्त है कर्ता नही। वो साक्षी है किंतु कोई फलाशा नही। उस के पास लक्ष्य है किंतु उस को प्राप्त करने कर लिए, कर्म है, कर्म के फल का हेतु नही। उस के सभी कार्य निष्काम, अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के और लोकसंग्रह के होते है।

कर्म को करने के लिये तीन स्वरूप निमित्त है जिन्हें कायिक अर्थात शरीर से किया हुआ कर्म, मानसिक अर्थात मन मे विभिन्न विचारों से किया कर्म एवम वाचिक अर्थात वचन द्वारा किया गया कर्म। अतः कोई व्यक्ति जरूरी नही की किसी कार्य को स्वयं अपने शरीर से करे, वह मन से भी उस कार्य सकता है और वचन से भी। कर्म के लिये इन्द्रियों, मन, बुद्धि एवम शरीर का उपयोग होता है और जब कर्म करते वक्त अहम, कामना या आसक्ति जुड़ जाती है तो उस के प्रतिफल के प्रति रुचि भी जाग्रत होती है। यही बंधन है। अहम, कामना, आसक्ति छोड़ कर कर्तव्य समझ कर यदि शरीर, मन, इन्द्रियों एवम बुद्धि से कर्म करे तो बंधन नही देता। यदि आप यज्ञ करते है, निष्काम कर्म करते है, नाम जप लेते है परंतु आप को मुक्ति की कामना है तो यह भी एक आसक्ति और कामना ही है। कर्मयोगी का समस्त व्यवहार, उस की समस्त इंद्रियां, मन, बुद्धि और शरीर केवल लोकसंग्रह और आत्मा की शुद्धि के कर्म में कार्यरत रहता है, जिस से उस के प्रारब्ध के कर्म और संचित कर्म बिना किसी कर्मबंधन के समाप्त हो जाए। जब किसी भी प्रकार कर्म का बंधन नहीं होगा, तो अज्ञान मिटना शुरू होता है और जीव अपने मुक्त स्वरूप को पहचान पाता है। जो स्वयं प्रकाशवान और मुक्त है उसे मुक्ति की भी कामना नही होनी चाहिए।

वकील केस लड़ते वक्त अपने पूरे ज्ञान के साथ तर्क प्रस्तुत करता है तो वह कायिक, वाचिक एवम मानसिक तीनो कर्म करता है। किंतु इस के उसे जीत के सम्मान या हार का भय या अधिक फीस कमाने की कामना या अन्य कोई भी अहम, आसक्ति हो तो यह कर्म बंधन वाला होगा।

शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व वह है जो इस उपर्युक्त द्रष्टा को भी प्रकाशित करता है यह उपनिषदों की घोषणा है। यदि परम सत्य साक्षित्व से भी परे है तो कर्मयोगी को इस साक्षीभाव का अभ्यास क्यों करना चाहिये इस का उत्तर है आत्मविशुद्धये अर्थात् अन्तकरण की शुद्धि के लिए। साक्षीभाव से कर्म करने पर स्वाभाविक ही अहंकार का त्याग होकर पूर्व संचित वासनाओं का क्षय हो जायेगा। जितनी अधिक मात्रा में वासना निवृत्ति होगी उतना ही शुद्ध और स्थिर अन्तकरण होगा जिसमें परमात्मा की अनुभूति स्पष्ट रूप से होगी।

आत्मा की शुद्धि से यहां तात्पर्य जीव के मन और बुद्धि की शुद्धि से है। शरीर की शुद्धि स्नान से होती है किंतु मन और बुद्धि की शुद्धि योग के अभ्यास से होती है जिस से जीव का यह अज्ञान समाप्त हो कि वह प्रकृति से लिपटा शरीर है, उसे अपना शुद्ध – बुद्ध आत्म स्वरूप का ज्ञान, कर्ता और भोक्ता भाव के समाप्त होने पर हो जाएगा। गीता में आत्मा शब्द शरीर, मन और बुद्धि एवम परब्रह्म के अंश स्वरूप में अलग अलग भावार्थ के साथ हुआ है।

जब सभी कार्य प्रकृति करती करती है तो यह शरीर, इंद्रियां, मन बुद्धि का संचालन करती है। वो उस का निमित है, कर्ता नही। प्रकृति ही प्रेरणा भर कर आप को उस समय एवम स्थान पर बैठा देती है जिस के कर्म किया जा रहा है। यह शरीर पंच तत्व से निमित प्रकृति जन्य है अतः प्रकृति के नियमानुसार इस को नष्ट होना ही है। परमतत्व परमात्मा इस जीव का साक्षी है। किंतु यह शरीर के अहम एवम मोह इसे परमतत्व से अलग करता है। ममता (अहम एवम कामना) को त्याग कर जब कर्मयोगी शरीर, मन, एवम बुद्धि (वचन) से सभी कार्य परमात्मा के निमित्त कार्य मान कर करने लगता है तो कर्मयोगी को किसी भी प्रकार से प्रकृति की शरीर, इंद्रियां, मन

एवम बुद्धि से की गई क्रियाओं का बंधन लागू नही होता क्योंकि तत्वदर्शी योग सिद्ध कर्म योगी होने से वो परमतत्व को प्राप्त कर चुका होता है। प्रकृति के सभी कार्य मानव या जीव निमित हो जरूरी नही, किन्तु कार्य–कारण के नियम से सृष्टि के संतुलन के लिये हो सकते है। आप अपने भविष्य का मार्ग पकड़ सकते है किंतु भविष्य में जो भी होना है वो प्रकृति ही तय करती है। इसलिये अपने को कर्ता मानना या मोह रखना एक मिथ्या भ्रम ही है। यही आत्मशुद्धि या मनोचित्तशुद्धि करण भी है।

जीव और प्रकृति का बंधन महंत अर्थात अहम से शुरू होता है जिसे से वह अहम के अज्ञान में मन और बुद्धि के साथ सूक्ष्म शरीर के 18 तत्व को अपना शरीर मानता है और जब यह जीव पंचभूत के पांच तत्व से शरीर को प्राप्त करता है तो उसे जन्म और शरीर के छूटने को मृत्यु समझ लेता है। अज्ञान में अपने स्वरूप को भूलने से उस का प्रथम प्रयास भ्रमित मन और बुद्धि को कर्मयोग से शुद्ध करना ही होता है। आत्मशुद्धि के अभाव में तत्वविद् होना वैसा ही है जैसा धूल और गंदगी से भरे चेहरे को आईने में साफ सुथरा देखने का प्रयास करना।

कर्म को निष्काम और निर्लिप्त भाव से करने वाला कर्मयोगी कैसा होता है, यह आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.11।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.12॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

"yuktaḥ karma-phalaṁ tyaktvā,
śāntim āpnoti naiṣṭhikīm..।
ayuktaḥ kāma-kāreṇa,
phale sakto nibadhyate"..।।

भावार्थ :

"कर्म–योगी" सभी कर्म के फलों का त्याग करके परम–शान्ति को प्राप्त होता है और जो योग में स्थित नही वह कर्म–फ़ल को भोगने की इच्छा के कारण कर्म–फ़ल में आसक्त होकर बँध जाता है। (१२)

Meaning:

One who is established in yoga, who has given up the result of action, attains everlasting peace. One who is not established in yoga, who has attachment to results due to desire, gets bound.

Explanation:

In this shloka, Shri Krishna compares and contrasts a karma yogi and a materialistic person. While both perform the very same action, and could very well get the same result, their attitude towards the work is different. One who follows karma yoga maintains the attitude that "I am not attached to the results", whereas the materialistic person does not maintain this attitude.

Another beautiful and important verse, Krishna says, karma yōga also will give peace of mind; jñāna yōga also will give peace of mind; but the difference is karma yōga will give a relative peace of mind, which is required for coming to jñāna yōga; and jñāna yōga will give you absolute peace of mind. So thus karma yōga is like the first aid, and the jñāna yōga is like the main treatment.

The ignorant person does action for sake of the result. He does not find joy in work itself. If the result is favourable, he gets extremely elated. But this happiness, and in some instances, peace of mind, is temporary. The minute a result of actions becomes favourable, he gets extremely dejected and disappointed. But the karma yogi does not wait for the result of the action to give joy. He finds joy in the work. The peace that he attains is driven from within, rather than from without.

It is this mental attitude that differentiates the karma yogi from the materialistic person. The easiest way to gauge our progress towards karma yoga is to constantly monitor our state of mind. If we get agitated for long periods of time when we receive the result of our action, it is an indication that we have generated an attachment to the result, which in turn indicates that the ego is strong.

Those who are unattached and unmotivated by material rewards are never bound by karma. But those craving reward and obsessed with the desire to enjoy material pleasures become entangled in the reactions of work.

By mechanism of karma phalam tyaktvā; he dropped his concern for the karma phalam that means he has given up the anxiety for karma phalam; the future can become a bondage also; future can become an assistance also for him and it provides Shanti to Karmyogi. When we are thinking of the future; for the sake of planning; then future is useful to me; because I can take into account all the possible obstacles and I can provide for all those obstacles and if I intelligently think of the future, it will make me more efficient in the present; but at the same time, if I am going to think of future and worry; worry with regard to future will make me deficient in the present; future can make me efficient; if I use it for planning; future can make me deficient, if I use it for worrying.

The word yukt means “united in consciousness with God.” It can also mean “not wanting any reward other than purification of the heart.”

On the other hand, ayukt means “not united with God in consciousness.” It can also denote “desiring mundane rewards not beneficial to the soul.”

On the other hand, if I learn lessons from the past, and become a mature person; an experienced person, then the very same past becomes, makes me efficient in the present. So thus if past is properly utilised, I become efficient, if past is improperly utilised, I become deficient.

।। हिंदी समीक्षा ।।

प्रयुक्त श्लोक कर्मयोगी के लिए है जब कि यही बात श्लोक 8-9 में सांख्य योगी के लिए थी। कर्म से मुक्ति नही हो सकती अतः कर्मयोगी को आसक्ति एवम अहम से मुक्त हो कर तत्वदर्शी होना चाहिए। युक्त का अर्थ है जुड़ना, निष्काम भाव से कर्म योग सन्यास से जुड़ना।

गीता के इस श्लोक में कर्मयोगी के विभिन्न कार्यो का वर्णन किया गया है। कुछ लोग काम करने में आनन्द लेते है और कुछ लोग काम के फल हेतु काम करते है। फल की दृष्टि से किया कार्य दुख, सुख का अनुभव करवाता है जबकि कर्म के दृष्टिकोण से किया कार्य कर्तव्य पालन धर्म का।

यदि कोई कर्म सकाम भाव से किया जाए तो उस का फल बंधक कारी होता है क्योंकि आप का मोह एवम आसक्ति आप को कर्म के साथ जोड़ती है।

कर्म में आसक्ति के लिए तीन स्वरूप है, पहला कर्ता भाव की आसक्ति अर्थात किसी भी काम को करने एवम नाम कमाने के लिये आगे बढ़ना, द्वितीय कर्म फल की आसक्ति, जिस में मुझे यह फल प्राप्त हो –यह फल स्वयं के लिये भी हो सकता है और किसी अन्य के लिये भी। किन्तु लोकसंग्रह नही। क्योंकि फल की प्राप्ति न होने पर दुख या खेद जुड़ जाता है। तृतीय कर्म की आसक्ति– कर्म करना है, फल किसी को भी मिले या कर्ता कोई भी हो। जब भी कोई पुकारा लगे तो कर्म के लिये हाजिर– इस मे आसक्ति उस कर्म विशेष को करने की लगती है, जिस से आप की पहचान हो।

यदि कोई कर्म निष्काम भाव से किया जाए तो भी कर्ता भाव जुड़ा होने से की मैं इस कार्य को कर रहा हूँ, कर्म के फल की प्राप्ति कुछ मात्रा में होती है। यहां आसक्ति नही होने से और केवल कर्ता भाव होने से कर्म बंधन बना रहता है।

यदि कार्य योग युक्त कर्म योगी भाव से किया जाए जिस में अपने अस्तित्व को परमात्मा में विलय कर देने के बाद तो वो सभी कार्य प्रकृति प्रदत होते है इसलिये उस मे आसक्ति एवम कर्ता भाव नही होने से कर्म बंधन नही होता।

संचितकर्मों के अनुसार प्रारब्ध बनता है प्रारब्ध के अनुसार मनुष्य का जन्म होता है और मनुष्य जन्म में नये कर्म होने से नये कर्म संस्कार संचित होते हैं। परन्तु कर्मफल की आसक्ति का त्याग कर के कर्म करने से कर्म भुने हुए बीज की तरह संस्कार उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं और उन की संज्ञा अकर्म हो जाती है । वर्तमान में निष्कामभावपूर्वक किये कर्मों के प्रभाव से उस के पुराने कर्मसंस्कार (संचित कर्म) भी समाप्त हो जाते हैं । इस प्रकार उस के पुनर्जन्म का कारण ही समाप्त हो जाता है।

कर्मफल चार प्रकार के होते हैं (1) **दृष्ट कर्मफल** वर्तमान में किये जानेवाले नये कर्मों का फल जो तत्काल प्रत्यक्ष मिलता हुआ दीखता है जैसे भोजन करने से तृप्ति होना आदि।

(2) **अदृष्ट कर्मफल** वर्तमान में किये जाने वाले नये कर्मों का फल जो अभी तो संचितरूप से संगृहीत होता है पर भविष्य में इस लोक और परलोक में अनुकूलता या प्रतिकूलता के रूप में मिलेगा।

(3) **प्राप्त कर्मफल** प्रारब्ध के अनुसार वर्तमान में मिले हुए शरीर जाति वर्ण धन सम्पत्ति अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आदि।

(4) **अप्राप्त कर्म** फल प्रारब्ध कर्म के फलरूप में जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भविष्य में मिलनेवाली है।

उपर्युक्त चार प्रकार के कर्मफलों में दृष्ट और अदृष्ट कर्मफल क्रियमाणकर्म के अधीन हैं तथा प्राप्त और अप्राप्त कर्मफल प्रारब्धकर्म और संचित कर्म के अधीन हैं। कर्मफल का त्याग करने का अर्थ है दृष्ट कर्मफल का आग्रह नहीं रखना तथा मिलने पर प्रसन्न या अप्रसन्न न होना अदृष्ट कर्मफल की आशा न रखना प्राप्त कर्मफल में ममता

न करना तथा मिलने पर सुखी या दुःखी न होना और अप्राप्त कर्मफल की कामना न करना कि मेरा दुःख मिट जाय और सुख हो जाय। साधारण मनुष्य किसी न किसी कामना को लेकर ही कर्मों का आरम्भ करता है और कर्मों की समाप्ति तक उस कामना का चिन्तन करता रहता है। जैसे व्यापारी धन की इच्छा से व्यापार आरम्भ करता है तो उसकी वृत्तियाँ धनके लाभ और हानिकी ओर ही रहती हैं कि लाभ हो जाय हानि न हो। धनका लाभ होनेपर वह प्रसन्न होता है और हानि होनेपर दुःखी होता है। इसी तरह सभी मनुष्य स्त्री पुत्र धन मान बड़ाई आदि कोई न कोई अनुकूल फलकी इच्छा रखकर ही कर्म करते हैं। परन्तु कर्मयोगी फलकी इच्छाका त्याग करके कर्म करता है।

अष्टावक्र जी कहते हैं-- आत्मा साक्षी है, व्यापक है, पूर्ण है, एक है, मुक्त है, चैतन्य-स्वरूप है, क्रियारहित है, असंग है, निस्पृह (इच्छारहित) है, शान्त है । यह आत्मा भ्रम से संसारी जैसा बन्धनग्रस्त है । आत्मा ब्रह्मस्वरूप पूर्ण है ।।

इसलिये भगवान श्री कृष्ण कर्मयोगी के निष्काम होने और न होने के अंतर को स्पष्ट करते हुए उसे आत्मयुक्त हो कर कर्म करने का मार्ग बता रहे है, जो सांख्य दर्शन में तत्वदर्शी होने के समान है।

व्यवहारिक जीवन में कर्म को फल की प्राप्ति हेतु ही मनुष्य करता है क्योंकि कर्म का फल उस के लिए कर्म करने की प्रेरणा देता है। इसलिए यदि कर्म का आशा के अनुसार फल नहीं मिले तो निराशा और उत्साह में कमी आ जाती है और कर्म की परिमाणिकता भी खराब होती है। अतः निष्काम कर्म करने के लिए कर्मयोगी निरंतर अभ्यास, श्रद्धा और निष्ठा से कर्म को निष्काम भाव से करने का प्रयास करता रहता है। इस प्रकार वह कामना, आसक्ति, मोह, ममता और माया से दूर होने लगता है। अक्सर जब हम उम्रदराज होने लगते है तो यह समझ भी आने लगती है। इस लिए भगवान श्री कृष्ण ने कर्मयोगी को कर्म से युक्त और उस के फल से अयुक्त हो कर्म करने को कहा है जिस से कर्म करने वाले को कर्म करते हुए शांति और आनंद संचार होता है।

आज के युग में जो युवा परीक्षा में सब से अव्वल आने की होड़ में यदि सही रिजल्ट न मिले तो निराशा हो कर आत्महत्या तक कर लेते है, जब साधारण नंबर ला कर भी मनुष्य आगे किसी भी क्षेत्र में यदि लगन, निष्ठा, श्रद्धा और विश्वास से युक्त हो तो सफल हो सकता है। किसी कार्य की कुशलता उस के फल पर ध्यान देने की बजाय कार्य को ध्यान से करने पर मिलती है। भगवान ने अध्याय 2 के 47वें श्लोक में भी कहा था कि तेरा अधिकार कर्म पर है, उस के फल पर नही।

अगले श्लोक में सांख्य योगी किस प्रकार कर्म करता है को जानेंगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.12।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.13॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥

"sarva-karmāṇi manasā,
sannyasyāste sukhaṁ vaśī.. ।

nava-dvāre pure dehī,
naiva kurvan na kārayan"..।।

भावार्थ :

शरीर में स्थित जीवात्मा मन से समस्त कर्मों का परित्याग करके, वह न तो कुछ करता है और न ही कुछ करवाता है तब वह नौ-द्वारों वाले नगर (स्थूल-शरीर) में आनंद-पूर्वक आत्म-स्वरूप में स्थित रहता है। (१३)

Meaning:

Having mindfully renounced all actions, the conqueror remains established in bliss. The embodied one, in the city with nine gates, neither acts nor causes to act.

Explanation:

Having spoken about the karmayogi's vision, Shri Krishna now provides an illustration of the enlightened seeker's vision in these shlokas. The picture he paints here is that one who identifies himself with the eternal essence, knows that he is only a dweller in the body, just like the resident of a city knows that he is a dweller, who is totally distinct from the city.

Shree Krishna compares the body with its openings to a city of nine gates. The nine gates are two ears, one mouth, two nostrils, two eyes, anus, and genitals. The soul is like the king of the city, whose administration is carried out by the ministry of the ego, intellect, mind, senses, and life-energy. The reign over the body continues until time, in the form of death, snatches away the corporeal frame. However, even while the reign continues, the enlightened yogis do not see themselves as the body nor do they consider themselves as the lord of the body. Rather, they hold the body and all activities performed by it as belonging to God. Renouncing all actions through the mind, such enlightened souls remain happily situated in their body. This is also called sākṣhī bhāv, or the attitude of being the detached observer of all that is happening around.

Imagine that you move into a new city for a job. As part of the move, you begin to utilize the city's services such as water, electricity, garbage collection, telephone, cable etc. But while you utilize these services, you know that you are a resident of the city. You don't begin to think that you are directly responsible for running the city. For example, when

you someone picks up the garbage, it is part of the city's services. You are in no way "running" the services.

Similarly, the enlightened seeker knows that he is the eternal essence, which is a dweller in the body and separate from the body. The body is pictorially depicted as a city with nine gates, each gate being an orifice (ear, nostril, eye) and so on. So when the seeker uses his hands, for example, he knows that the body, mind and intellect are operating independently. The enlightened seeker is actuality, doing nothing at all. Just like the resident knows that the city's services operate by themselves, and he is just a witness, similarly the enlightened person knows that the self is just a resident in the body, totally separate from the body.

Another indication of the seeker's state is that he has complete control of his senses, and that he has mentally renounced the notion of doership. He knows that it is the body, mind and intellect that is performing action. This is indicated in the first part of the shloka. The end result is that the seeker, knowing that he is separate and distinct from the actions of the body, mind and intellect, lives in complete bliss.

Now Krishna is going to talk about jnana yoga, which is the next stage after karma yoga; whose importance many people do not know at all; and many people think jnana yoga is optional, many people do not know the importance of scriptural study; why to study all those. Is it not enough that I continue to be a devotee; I follow values, I do my regular pujas; and I do all these things and lead a noble life; will I not get liberation; should I study the scriptures. This is the basic question.

jnana yoga is systematic and consistent study of vedantic scriptures for a length of time, under the guidance of a competent guru. Systematic and consistent study of the vedsntic scriptures; because there are other dharma śastra granthah; dharma śastras will give you only the knowledge of dharma; and dharma is important for purity of mind, but dharma śastra cannot give you self-knowledge, because they do not deal with Self. Or even if they deal with, it is only hinted at in a few verses. Therefore consistent and systematic study of vedantic scriptures which dwell with this knowledge; what knowledge; who am I; what is this world; who is God; what is the relationship between me and world; what is the relationship between me and God; what is the relationship between God and world; why are we created; and what is our goal; these basic

questions we call vedantic scriptures; jīva- jagat- īśvara- bandha- mukthi; these five topics should be there; jive -jagat - iśhvara-bandha- mukthi; the scriptures which contain these five topics is called vedantic scriptures, in any language. So thus consistent and systematic study of the vedantic scriptures for a length of time under the guidance of a competent guru is called jnana yoga and when a person goes through this jnana yōga; he discovers a very very important fact and what is that fact?, we saw in the second chapter; I-am-not –the- body; I-am-not-the-mind; but I- am- the- consciousness who is functioning through the body. I am transacting through the body- mind- complex, but I am not the body- mind- complex. When the body- mind- complex dies or dissolves, I do not die, my transactions stop. Which we experience regularly during sleep; body- and mind becomes inactive or passive.

In this verse, Shree Krishna declared that the embodied soul is neither the doer nor the cause of anything. Then the question arises whether God is the actual cause of actions in the world. This is answered in the next verse.

Footnotes

1. Adi Shankaraachaarya in his commentary of this shloka gives an indicator that differentiates an enlightened seeker from an ordinary seeker. Let's say we ask someone the question: "where are you sitting?". If the person answers "on a chair" etc, then he is an ignorant seeker. If he answers "I am always sitting in the body", he is an enlightened seeker.

।। हिंदी समीक्षा ।।

कर्मयोगी जिस प्रकार निष्काम, समर्पण, श्रद्धा एवम विस्वास से कर्म करता हुआ भी निद्वन्द हो कर्मबन्धन से मुक्त रहता है, वैसे ही सांख्य योगी अपने को अकर्ता समझ कर जो भी क्रिया शरीर करता है, उसे प्रकृति की क्रिया के भाव से कर्मबन्धन से मुक्त रहता है। आत्मा को कर्मयोग एवम सांख्य योग दोनो में साक्षी एवम अकर्ता ही कहा गया है और समस्त क्रियाए प्रकृति द्वारा होती है, यही माना गया है।

प्रकृति सदैव क्रियाशील रहती है। अतः प्रकृति से सम्बन्ध बना रहने के कारण मनुष्य कर्मरहित हो ही नहीं सकता। परन्तु **प्रकृति के कार्य स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों से ममता आसक्ति पूर्वक कोई सम्बन्ध न होने से सांख्ययोगी उन की क्रियाओं का कर्ता नहीं बनता।** यद्यपि सांख्ययोगी का शरीर के साथ किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं होता तथापि लोगों की दृष्टि में वह शरीरधारी ही दिखता है। इसलिये उसे देही कहा गया है।

इन्द्रियाँ मन बुद्धि आदि में मोह, ममता, आसक्ति और अहम होने से ही ये जीव पर अपना अधिकार जमाते हैं। मोह, ममता, आसक्ति और अहम आदि न रहने पर ये स्वतः अपने वश में रहते हैं।

सांख्ययोगी की इन्द्रियाँ मन बुद्धि आदि में ममता आसक्ति न रहने से ये सर्वथा उस के वश में रहते हैं। इसलिये यहाँ उसे वशी कहा गया है।

यह श्लोक सांख्य योगी के बारे में है जिस में शरीर को नो द्वार का महल माना गया है, यह नो द्वार दो आंखे, दो कान, दो नासिका छिद्र, मुख, मूत्रेन्द्रिय और गुदा है। अतः इस मे निवास करने वाला देही है जो यह मानता है समस्त कार्य प्रकृति करती है एवम वो मन से समस्त कार्यो को त्याग के आनन्द एवम उदासीन भाव से इस शरीर में रहता है। उस के कर्तव्य कर्म आदि कोई भी कार्य नही होता। इसलिये सांख्य योगी सम्पूर्ण रूप से स्ववश में रहते हुए अपने शरीर, मन, बुद्धि और प्रकृति से परे स्वयं में स्थित है, वो न कुछ करता है और न ही कुछ कराता है। वो स्वरूपानंद है।

इस विशेषण से क्या सिद्ध हुआ संन्यासी हो चाहे असंन्यासी सभी जीव शरीर में ही रहते हैं। इस स्थल में विशेषण देना व्यर्थ है। जो अज्ञानी जीव शरीर और इन्द्रियों के संघात मात्र को आत्मा माननेवाले हैं। वे सब घर में भूमि पर या आसन पर मैं बैठता हूँ ऐसे ही माना करते हैं क्योंकि देहमात्र में आत्म बुद्धि युक्त अज्ञानियों को घर की भाँति आत्मा या चेतन शरीर में रहता हूँ यह ज्ञान होना सम्भव नहीं। परंतु देहादि संघात से आत्मा भिन्न है ऐसा जानने वाले विवेकी को जीव का निवास शरीर में रहता है, यह प्रतीति हो सकती है।अर्थात कोई कहे कि 'मैं' कुर्सी पर बैठा हूँ तो वो शरीर के साथ जुड़ा अहम है और जो यह कहे कि 'मैं' शरीर मे स्थित हूँ वो शरीर की अंतरात्मा अर्थात परमतत्व है। क्योंकि वो शरीर में निवास करता है। सूक्ष्म अंतर के साथ समझने की गंम्भीर बात है।

अर्जुन का प्रश्न था सन्यास योग या कर्मयोग में जो श्रेष्ठ मार्ग, वह बताए। इसलिए दोनो में विभेद नही करते हुए, अभ्यास से सांख्य योग आत्मशुद्धि के बाद जिस स्थान पर ज्ञान के तैयार होता है, वही स्थिति कर्म योगी भी निष्काम करते हुए, प्राप्त करता है। इसलिए मार्ग कोई भी हो, प्रथम सीढ़ी आत्मशुद्धि ही की है।

अध्याय 4 के श्लोक बारह तक भगवान श्री कृष्ण जो कुछ भी ज्ञान कर्म योग या सांख्य योग से दे रहे थे वह मुख्यतः आत्म या चित्त शुद्धि का था। मन, बुद्धि और शरीर की जब तक प्रकृति के विकारों अर्थात अहम, कामना , आसक्ति, राग – द्वेष, लोभ, मोह, और अहम से मुक्ति नहीं होती, जीव में कर्ता और भोक्ता भाव का अज्ञान रहता है। इसलिए कर्म योग या सांख्य योग दोनो के द्वारा जो भी प्रथम अभ्यास किया जाता है वह स्वयं से परिचय अर्थात आत्म या चित्त शुद्धि का है। जैसे ही चित्त की शुद्धि हो जाती है, जीव को यह ज्ञात हो जाता है वह इस भौतिक शरीर का स्वरूप नही है, वरन वह इस नौ द्वार के शरीर में रहता है। इस लिए प्रवृति अथवा निवृति अर्थात कर्म योग या सांख्य योग दोनो से जीव प्रथम अभ्यास आत्म शुद्धि का करता है।

आत्म शुद्धि होने के बाद ज्ञान योग का प्रारंभ होता है। ज्ञान योग से हम प्रकृति, आत्मा, ब्रह्म, अर्थात जीव – जगत – परमात्मा और बंधन के साथ सृष्टि की रचना को समझते है। कक्षा 1 से 5 तक अक्षर ज्ञान, कहानी, निबंध, कविता और छंद आदि को पढ़ाया जाता है जिस से विषय के विभिन्न शब्दो और उस के अर्थ को समझ सके। कक्षा 6 से विषय का ज्ञान शुरू करते है जो अध्यात्म में शास्त्रों या वेदों का ज्ञान है। सामान्य जन जो कमजोर बुद्धि के होते है, उन के यह ज्ञान योग समझ के बाहर होने लगता है तो वे यही मान कर संतोष रखते है कि यदि

में इस मंत्र की रोज माला फेरता हूं, या मंदिर जाता हूं या पूजा भक्ति में भजन कीर्तन करता हूं तो यह मेरे लिए प्रर्याप्त है। ऐसे भक्ति के मार्ग में जो श्रद्धा, विश्वास और प्रेम से भगवान को समर्पित है, उन को ज्ञान परमात्मा देता है। किंतु कर्म योगी या सांख्य योग को गुरु के माध्यम से यह ज्ञान प्राप्त करना होता है।

गीता का अध्ययन करने वाले भी अध्याय 5 के बाद के अध्याय को समझने में अक्सर विफल होने लगते है क्योंकि ज्ञान को पढ़ना, समझना और ग्रहण कर पाना जीव के बौद्धिक क्षमता और अच्छे शिक्षक के बिना नहीं होता। जीव के आत्मशुद्धि कर पाना ही कठिन है, वह नौ द्वार के घर को ही अपना समझ कर पूजा पाठ, अर्चना, दान करता है। स्वार्थ, भय और लोभ के कारण वह कामना और आसक्ति का त्याग नही कर पाता।

ज्ञान में स्वार्थ या लोभ नही होता। कोई यदि कहे की गीता के 14 वें अध्याय का पाठ करने से संकट का नाश होता है, तो यह वैसा ही है जैसे हम अपने बच्चे को कहते है कि आज यदि तीन पेज लिख लो तो तुम्हे चॉकलेट मिलेगा। याद रखो ज्ञान व्यापार नही है, ज्ञान का आधार उसी जीव के लिए जो नौ द्वार के घर में निर्लिप्त भाव से रहता है। ज्ञान से जीव का अज्ञान ही मिटता है। अज्ञान मिटने से जीव जो ब्रह्म का अंश है और जो असंग है, उसे कुछ जरूरत ही नही है।

अतः जब जीव यह जान लेता है कि वह अब शरीर नही है बल्कि इस में रहने वाला जीव है तो उस का अज्ञान शरीर अर्थात देह और देहि के संबंध में मिटने लगता है।

मुख्य जानने की बात कि कर्म योगी भी सभी कर्मो को करते हुए कैसे युक्त रहता है, इसे हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.13।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.14॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

'na kartṛtvaṁ na karmāṇi,
lokasya sṛjati prabhuḥ..।
na..। karma-phala-saṁyogaṁ,
svabhāvas tu pravartate"..।।

भावार्थ :

शरीर में स्थित जीवात्मा देह का कर्ता न होने के कारण इस लोक में उसके द्वारा न तो कर्म उत्पन्न होते हैं और न ही कर्म–फलों से कोई सम्बन्ध रहता है बल्कि यह सब प्रकृति के गुणों के द्वारा ही किये जाते है। (१४)

Meaning:

Neither agency nor actions, in this world, are created by the eternal essence, and neither does it connect actions to results; for nature organizes all this.

Explanation:

Earlier, Shri Krishna provided the example of the dweller in the city to illustrate the distinction between the eternal essence and the body, mind and intellect. In this shloka, he takes us one step further by saying that the eternal essence is beyond the realm of action. Furthermore, since action implies doership, results and their enjoyership, action and everything that comes with it is in the realm of prakriti or nature. The eternal essence is separate and distinct from action.

Renunciation of the sense of doership is the responsibility of the soul. The body is constituted of the three modes of material nature consists of the three modes-goodness, passion and ignorance. When the living entity comes in contact with nature, he becomes conditioned by these modes. But out of ignorance, the soul identifies with the body and becomes implicated as the doer of actions, which are in fact done by material nature.

Any self-contained system has inherent rules which govern its operations. For example, let us consider the Pac-Man video game. The game is played in a computer that has four buttons which are used to move Pac-Man up or down or left or right. The rules of the game are programmed into the system. If the player manages to get the fruit while evading the monsters, he wins the game. All this happens automatically. It does not require external intervention by any divine or human entity.

But if we take a step back, the Pac-Man character does not really "move" anywhere. It is an illusion created by the computer by projecting the Pac-Man image to different parts of the screen. One who is watching the game very objectively knows that there is no movement of left, right etc.

Similarly, one who sees the world from the absolute standpoint of the eternal essence knows that in reality, there is no action. Action only exists from the standpoint of nature or prakriti. And if action only exists in nature, so does doer ship, enjoyer ship, and connection of actions to their results. It is a self-governing automatic system.

Krishna explain in the 2nd line; there we will see; the doership is not created by ātma; even the objects of action, the ātma does not produce; ātma does not produce the karta; ātma does not produce the karma and ātma does not produce the interaction between karta and karma phalam; it does not produce karta; it does not produce karma, it does not produce karma phalam; and it does not produce the interaction or association between kartā and karma phalam. In short, ātma does not do anything.

OK; if ātma does not do anything, how come all these are doing actions, who is responsible for all these actions. Krishna says it is the innate nature of the body to be active, it is the innate nature of the mind to be active ātma does not do exactly like electricity blesses all the gadgets generally; electricity does not ask the radio to produce sound; electricity does not ask the fan to rotate; electricity blesses all of them.

Similarly here also, the mind does its activities the senses do their activities; the body does its activities atma is only a witness.

।। हिंदी समीक्षा ।।

सृष्टि की रचना का कार्य सगुण भगवान् का है इसलिये प्रभु पद दिया है। भगवान् सर्वसमर्थ हैं और सब के शासक नियामक हैं। सृष्टि रचना का कार्य करने पर भी वे अकर्ता ही हैं। परमात्मा के कर्म दिव्य होते है इसलिये वह उदासीन है।

किसी भी कर्म के कर्तापन का सम्बन्ध भगवान् का बनाया हुआ नहीं है। मनुष्य स्वयं ही कर्मों के कर्तापन की रचना करता है। सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा किये जाते हैं परन्तु मनुष्य अज्ञानवश प्रकृति से तादात्म्य कर लेता है और उस के द्वारा होनेवाले कर्मों का कर्ता बन जाता है।

सत, रज एवम तम तीनो गुण, राग द्वेष आदि समस्त विकार, स्वार्थ के कारण परिभाषित शुभ अशुभ कर्म और उन के संस्कार के रूप में परिणत हुई प्रकृति अर्थात जीव का स्वभाव होता है। अतः प्रकृति अपने त्रियामी गुणों के द्वारा माया के संयोग से समस्त कार्य करती एवम करवाती है क्योंकि इस सृष्टि यज्ञ कर्म का संचालन उस के नियमो के आधार पर चलता है। अज्ञान वश मनुष्य प्रकृति के कार्यो का कर्ता बन जाता है। इसी अज्ञान के कारण वो अपने कर्तापन, कर्म एवम कर्मफल से संयोग से होने वाली समस्त घटनाओं को परमात्मा की इच्छा के नाम दे देता है।

आप पढ़ाई नही करते और फैल होने को परमात्मा के नाम डाल देते है। आप स्वास्थ्य के नियमो का पालन नही करते और बीमारियों को हरि इच्छा बताते हुए उसे ठीक करने के लिए प्रार्थना करते है और जब आप भगवान से प्रार्थना कर के कुछ मांगते है तो भी कुछ नही होता।

कंप्यूटर पर खेलते वक्त जो चरित्र के माध्यम से आप खेल रहे होते है, वह चरित्र स्वयं में कुछ नही करता, वह आप के निर्देश पर कार्य करता है, नही वह कंप्यूटर में रचित प्रोग्राम में कार्य करता है, जिस का संचालन आप कर रहे है। कंप्यूटर पर प्रोग्राम की रचना भी कंप्यूटर की भाषा के प्रोग्राम पर आधरित हैऔर कंप्यूटर स्वयं भी

पावर पर चलता है। अतः मुख्य रचनाकार माइक्रो चिप्स है, और बाकी माया यानी नियम प्रणाली जिस में खेल में कलाकार खेल रहा है। परब्रह्म ने प्रकृति रची, इस के गुण धर्म बनाये और माया द्वारा इस के संचालन के नियम बनाये। यह संसार का संचालन प्रकृति माया से करती है और परब्रह्म अकर्ता है, उस का इस संचालन में कोई दखल नही। यही गहन अध्ययन की शुरुवात अब इस श्लोक से हो रही है।

जीव एवम प्रकृति के 25 तत्व बताये गए है, जिन्हें हम विस्तार से आगे पढ़ेंगे। इन तत्वों में प्रकृति सत–रज–तम गुण से विभिन्न जीव में फैली हुई है। इन्ही गुणों एवम तत्वों के विभिन्न अनुपात में मिलने से यह संसार मे अनगिनत जड़ एवम चेतन पदार्थ है। सभी के गुण धर्म अलग अलग। वैज्ञानिक मूल तत्व को खोजता है और सांसारिक बाह्य तत्व को। एक ही मिट्टी से कुम्हार घड़ा, सुराही, बर्तन आदि बना देता है। प्रकृति गुण धर्म से विभिन्न फलों एवम फूलों की रचना करती है।

प्रकृति तो लंबी चौड़ी एवम विस्तृत है, आप पर उस का प्रभाव आप की मानसिकता एवम आप के अज्ञान के अनुसार होता है और उसी के अनुसार आप का स्वभाव विकसित या विकृत होता है।

एक छोटे बालक को अग्नि में हाथ डालने में भय नही क्योंकि उस को अग्नि के गुणों का अज्ञान है किंतु वयस्क अग्नि में हाथ नही डालेगा। आप का ज्ञान, अहम, मोह, राग– द्वेष ही प्रकृति को कार्य करने का अवसर देता है जो आप का स्वभाव भी बन जाता है।

प्रायः लोग कहते है कि करने कराने वाला तो भगवान है, हम तो उस के यंत्र मात्र है। हम से वे भला करवावे अथवा बुरा। किन्तु योगेश्वर श्री कृष्ण कहते है कि न वह प्रभु स्वयं करता है, न ही कराता है और न ही जुगाड़ बैठा कर प्रेरित करता है। लोग अपने स्वभाव में स्थित प्रकृति के अनुरूप कार्य की ओर प्रेरित होते है और अपनी आदत से मजबूर हो कर स्वयं यह सब कार्य करते है और उस के फल को प्राप्त होते है।

एक अन्य उदाहरण ले तो विद्युत अपनी गति से विभिन्न यंत्रों में बहती है, उस के मिलते ही यंत्र की जैसी सरंचना होती है वह वैसे ही कार्य करना शुरू कर देता है, जैसे पंखे का घूमना, रेडियो का बजना, मशीन का चलना आदि। प्रकृति की भी क्रियाएं गतिशील है, जैसे ही यह प्रकृति प्रदत्त शरीर में उस में सत, रज या तम के गुणों के संपर्क में आदि है, मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार क्रियाशील हो जाता है। आत्मा को जीव के नौ द्वार के घर में रहती है, वह न तो किसी क्रिया को उत्पन्न करती है और न ही उस क्रिया के अनुसार शरीर द्वारा किए कर्म के कर्ता या भोक्ता भाव को धारण करती है। जीव ही अज्ञान में उस कर्म का कर्ता और भोक्ता बन जाता है। आत्मा तो मात्र साक्षी है। प्रकृति की क्रियाएं भौतिक शरीर में आत्मा की उपस्थिति से होती है, क्योंकि प्रकृति क्रियाशील तो है किंतु वह जीव की अनुपस्थिति में कार्य नही कर सकती, इस लिए आत्मा प्रकृति की किसी भी क्रिया का साक्षी होता है। जीव ही मन, बुद्धि और शरीर से प्रकृति की गुणों के अनुसार कार्य करता है। अध्याय 2 के 47 श्लोक में जो कर्म पर अधिकार की बात की गई थी, वह प्रकृति की क्रियाओं को प्रकृति के गुणों के अनुसार करने के अधिकार की थी, जिसे वह कामना और आसक्ति, मोह एवम अहम में करे या आत्मा को साक्षी रख कर करे।

यह श्लोक अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि जब सांख्य योग द्वारा यह माना गया है की शरीर मे स्थित आत्मा परमात्मा की भांति अकर्ता एवम उदासीन है तो इस संसार का संचालन, रचना और पालन भी परमात्मा नही करता। यह

समस्त कार्य प्रकृति के अंतर्गत होते है जिन्हें हम कर्ता– कर्म– कारण के नियमो से पहचानते है। परमात्मा के प्रकाश में प्रकृति ही इन सब रूपो में नृत्य करती है और वही कर्तृत्व, कर्म एवम फलसंयोग के जोड़ तोड़ को मिलाती रहती है।

जब भगवान् किसी के कर्तृत्व कर्म और कर्मफल संयोग की रचना नहीं करते तो फिर वे किसी के कर्मों के फलभागी कैसे हो सकते हैं इस बात को आगे के श्लोक में हम आगे पढ़ेगे।

।। हरि ॐ तत सत।।5.14।।

।। प्रकृति ।। विशेष - 5.14 ।।

सांख्य एवम कर्म योग में श्रद्धा, भक्ति एवम ज्ञान और ध्यान को बता कर हम ने निष्काम, निष्ठा एवम अभान को समझा। हमे बताया गया कि हमारा अधिकार कर्म तक ही सीमित है, कर्ता कोई और है। सांख्य योगी भी समस्त क्रियाए प्रकृति की मानते हुए स्वयं को अकर्ता ही रखता है। हमे यह भी बताया गया कि शब्दिक ज्ञान से कुछ नही होता, मोक्ष की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु होना पड़ता है।

गीता अध्ययन में जब हम अपने आधे अधूरे ज्ञान को प्रकाशित करते है तो वास्तव में हम अपने अहम को संतुष्ट करते है कि हमे यह भी आता है, यह सुंदर वाक्य या ज्ञान हमे अभिभूत करता है। किंतु यह चिकने घड़े की भांति हमारे ऊपर तेल लेप है जो हमे गहन अध्धयन से दूर भी रखता है और हमारे अंदर निष्ठा, निष्काम एवम अभान को प्रविष्ट भी नही होने देता। गंगा में डुबकी तो लगा ली, किन्तु उन पाप को नही छोड़ पाए, तन तो स्वच्छ हो गया किन्तु मन और आत्मा वही है। साबुन से कोयले को धो धो कर सफेद करने जैसा प्रयास।

गीता अध्ययन के कर्मयोग में श्रद्धा, भक्ति एवम निष्ठा का अभाव है तो ज्ञान, निष्काम एवम अभान भी नही होगा। फिर मोक्ष भी नही। हम अहम की संतुष्टि के लिये गुरु या ज्ञान कि तलाश करते है और चार शब्द सीख कर अपने अहम को, अपनी कामना एवम आसक्ति को संतुष्ट करते है, तांकि समाज मे हमारा चेहरा आध्यात्मिक ज्ञान से लीपा–पुता दिखे। हमारा ज्ञान ब्लैक बोर्ड पर लिखे उन सुंदर वाक्यो जैसा होता है जिस का ब्लैक बोर्ड को पता भी नही होता और कोई इतना ज्ञान रखने के बाद भी ब्लैक बोर्ड को भी कोई ज्ञानी भी नही मानता।

यह सब कौन इस जीव के साथ खेल रहा है। जीव अपने को होशियार समझ रहा है या फिर उस की होशियारी में उस की मूर्खता है। परब्रह्म का अंश जीव तो अकर्ता है, साक्षी है, नित्य है तो वह कर्ता कैसे हो सकता है। इस अज्ञान के कारण और मूल की समझने के लिये यह श्लोक अत्यन्त ही गहन है जो गीता के औपचारिक ज्ञान के बाद द्वितीय चरण के ज्ञान के द्वार पर खड़ा करता है। जीव को भ्रमित कर के कोई यदि उस के साथ खेल रहा है तो उस को परब्रह्म की माया द्वारा रचित प्रकृति का नाम दिया गया है। यह प्रकृति ही सब खेल, कर्म, उस के फल, विभिन्न प्रकार के जन्म, मृत्यु को निर्धारित करती है, परब्रह्म इस मे कुछ भी नही करता है। उस ने जीव रचा, माया रची और माया के नियमो से चलने वाली प्रकृति रची। यही समझना और जानना ज्ञान का द्वितीय

चरण है। क्योंकि ज्ञानी ही जान सकता है कि जीव कुछ नही करता, वह तो निमित्त मात्र है, जो कुछ घटित होता है, वह प्रकृति ही करती है।

पूर्व समीक्षा में हम ने कंप्यूटर के उदाहरण में किसी खेल के पीछे खेल को संचालन करने वाला, खेल का प्रोग्राम बनाने वाला, खेल के प्रोग्राम की भाषा लिखने वाला, माइक्रो चिप्स बनाने वाला या कंप्यूटर में जो ऊर्जा संचालित होती है जिस से यह सब चल रहा है,आदि को जाना। किन्तु इस मे कर्ता वास्तव में कौन है? यही अध्ययन आगे करना है। यही ब्रह्म का अध्ययन है। किन्तु अध्ययन सभी के सामान्य है, अनुभव सब का निजी है। बिना अनुभव के सिर्फ वाचाल हो सकते है, ब्रह्मसंध नही।

श्लोक 5.14 को गहन अध्ययन किया जाए तो यह स्पष्ट है इस सृष्टि यज्ञ चक्र में प्रकृति ही अपने त्रियामी गुणों एवम माया से काम करती है। शरीर, इंद्रियां, मन, और बुद्धि सभी प्रकृति के साथ जुड़े है। यह प्रकृति पंच तत्व की भी नियामक है जिस से समस्त संसार का निर्माण हुआ है। मनुष्य मात्र ही बुद्धि द्वारा इस प्रकृति का साथ और विरुद्ध कार्य करता है। उस का अहम एवम मोह उसे कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव मे ले जाता है और वह स्वयं को कर्ता मानता है। इसी क्रम में वह प्रकृति के कार्यो को समंझ नही पाता और स्वयं को परमात्मा एवम प्रकृति के बीच मे खड़ा कर देता है।

अतः चमत्कार या भाग्य कुछ नही वरन प्रकृति के पंच तत्व एवम विभिन्न जीवो के पिछले किये हुए क्रियाओं का संयोग मात्र है। किसी भी कार्य का फल इस बात पर निर्भर नही होता कि आप ने इसे किस प्रकार किया। यह अन्य के द्वारा की गई क्रियाओं एवम समय, साधन, स्थान एवम कार्य करने के तरीके पर भी निर्भर है। किसी भी कार्य का परिणाम तुरंत हो यह भी जरूरी नही। यह कभी संचित एवम कभी एकल भी कभी भी मिल सकता है ।

अतः जब परमात्मा अकर्ता है तो प्रकृति के हर कार्य को कर्ता कर्म एवम कारण के साथ ही समझना चाहिए और इसी का अनपेक्षित सयोग ही भाग्य है। इसी प्रकार पंच तत्व एवम कर्ता कर्म एवम कारण से होने वाली घटना या अप्राकृतिक क्रियाओं को हम चमत्कार मानते है। बुद्धिमान व्यक्ति इन क्रियाओं का गहन अध्ययन कर के प्रकृति के कार्यो को खोज कर अविष्कार करते है और अज्ञानी चमत्कार मान कर प्रणाम करते है।

गीता आत्मोन्नति की तरफ ज्ञान का प्रसार करती है इसलिये गीता में कर्म कांड की बजाय आत्म ज्ञान है। प्रयुक्त श्लोक सांख्य योग से प्रेरित है। क्योंकि परमात्मा के समस्त कार्यो को दिव्य कर्म ही माना गया है अतः सृष्टि का संचालन करते हुए भी वो उदासीन ही है।

अज्ञान एवम मोहवश हम ईश्वर से प्रार्थना द्वारा कुछ मांगते रहते है। किन्तु ऐसा कुछ नही होता। ईश्वर के कर्म दिव्य है अतः जगत के जीवन होते हुए भी वो अकर्ता है। जगत का संचालन प्रकृति करती है । इसलिये आप की प्रार्थना पर जो भी आप को मिलता है वो आप के संचित कर्म ही है।

जीव परमात्मा का अंश है, अंश का अर्थ किसी से अलग हो कर कोई टुकड़ा नही है क्योंकि पूर्ण से जो निकल कर अलग है वह भी पूर्ण ही है। इसे आत्मा कहा गया। इस का संयोग जब प्रकृति से हुआ तो यह जीवात्मा बना। प्रकृति यानी सूक्ष्म एवम स्थूल स्वरूप में 28 तत्व से बना भौतिक शरीर जिस का संचालन बुद्धि, मन और अहम करता है। अहम जीव का ही अज्ञान है जिस में वह अपने ब्रह्म स्वरूप को भूलकर प्रकृति स्वरूप को ही अपना स्वरूप मानता है। इंद्रियां, मन और बुद्धि से शरीर प्रकृति के द्वारा क्रियाएं करता है जिसे प्रकृति ही माया से और

अपने तीनो गुणों से संचालित करती है। जीव का अज्ञान और ज्ञान इसी बुद्धि से होना है किंतु कामना, आसक्ति , मोह, अहम से जीव कर्म के बंधन में फस जाता है। यही कारण है कि कर्म एक घूमता हुए पहिया है जिस पर जीव को खड़े रहने के लिए चलना पड़ता है। फिर को अच्छा – बुरा जो भी जीव के साथ होता है वह उस के कर्ता और भोक्ता के अज्ञान से उत्पन्न फलों का प्रभाव है, परमात्मा का इस में कोई हस्तक्षेप नहीं होता। अज्ञानी लोग अपने कष्टों के लिए परमात्मा को पुकारते है। ज्ञानी साक्षी भाव से प्रकृति की क्रियाओं को होते देखता रहता है।

अंत मे अर्जुन में अपने मोह एवम भय में अज्ञान से जनित ज्ञान के तर्क दिए थे, तब भगवान श्री कृष्ण ने कुछ नही कहा, किन्तु जब वह कोई भी मार्ग नही पाता, तब भगवान उस को ज्ञान देते है, गुरु या ज्ञान में जब कोई अपने आधे अधूरे ज्ञान के साथ जाता है तो वह प्राप्त ज्ञान पर विवाद या बहस करता है, क्योंकि वह अहम के साथ जाता है, परंतु जब वह अहम को छोड़ कर जाता है तो गुरु के ज्ञान पर मनन करता है और अपने ज्ञान का अनुभव करता है कि बताई हुई बात का वास्तविक अर्थ क्या है। भला ब्रह्म में लीन व्यक्ति को शिष्य या गुरु बनाने की आवश्यकता भी क्यों है, जो अद्वेत है, वह क्यों द्वेत होगा? जरूरत शिष्य को उस की है, जिस के पास अपना, अहम, ज्ञान, कामना एवम आसक्ति को त्याग के शरणागत हो कर जाना पड़ता है। मुमुक्षु हो कर गीता का अध्ययन मोक्ष का मार्ग है और ज्ञानी को कर अध्ययन हमे कभी मोक्ष के अनुभव को नही बताता और हम अध्ययन के बाद भी ज्यो के त्यों रह जाते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 5.14।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.15॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

"nādatte kasyacit pāpaṁ,
na caiva sukṛtaṁ vibhuḥ....I
ajñānenāvṛtaṁ jñānaṁ,
tena muhyanti jantavaḥ" II

भावार्थ :

शरीर में स्थित परमात्मा न तो किसी के पाप–कर्म को और न ही किसी के पुण्य–कर्म को ग्रहण करता है किन्तु जीवात्मा मोह से ग्रसित होने के कारण परमात्मा जीव के वास्तविक ज्ञान को आच्छादित किये रहता है। (१५)

Meaning:

Neither does the eternal essence accept anyone's sins, nor anyone's merits. Ignorance veils knowledge, that is how creatures are deluded.

Explanation:

In the sequence of shlokas describing the vision of the enlightened seeker, Shri Krishna provided the illustration of the city dweller and also asserted that the eternal essence is separate and distinct from action and its adjuncts including doership, results and enjoyership of result. In this shloka, he takes us another step further in explaining the distinctness of eternal essence from action. He says that even sin and merit also have nothing to do with eternal essence. He also further says that action, result, doership, enjoyership, sin, merit - the notion that these belong to the "I", the eternal essence, is termed as ignorance. This ignorance is caused due to our strong identification with the body, mind and intellect.

God is not responsible either for anyone’s virtuous deeds or sinful actions. God’s work in this regard is threefold: 1) He provides the soul with the power to act. 2) Once we have performed actions with the power supplied to us, He notes our actions. 3) He gives us the results of our karmas.

The individual soul has the freedom to perform good or bad actions by the exercise of its own free will. That free will is the basis of the play of creation, and it accounts for the varieties of consciousness amongst the souls in existence. God’s work is like that of an umpire in a cricket match.

God granted free will to the soul. Without free will, there can be no love. The exercise of our own free will results in good and bad deeds, and we must not blame God for them. In ignorance, some souls do not even realize that they possess the freedom to choose their actions and hold God responsible for their mistakes. Others realize they possess a free will, but they harbor the pride of doership in the egoistic notion of being the body. This is again a sign of ignorance.

Let us refer to the Pac-Man example from the previous post. Based on his actions in the video game, the Pac-Man character can gain points (merits) or lose points (demerits). This gaining and losing of points is again based on rules of the video game. It, too, is a fully automatic system that does not require any external intervention to work.

Now, in some places in the Gita, Shri Krisha asks us to offer merit and sin to God. But here it is said that eternal essence does not take sin or merit. So how do we reconcile this seeming contradiction? The key thing to understand here is that the person who thinks he is associated with action, sin and merit is at one level, and the person who has identified himself with eternal essence is at another level. It is just like saying that the points accumulated in a Pac-Man game have no bearing in the real world. The game and the real world are two different realms.

Another way to look at it is as follows. Sin and merit are duality. They are two sides of the same coin, as it were, just like black/white, heat/cold and day/night. When you rise above it, duality has no bearing. Day and night do not mean anything when one is in outer space, when one leaves the earth and rises above it.

Here's another noteworthy point. Shri Krishna has used an interesting word to refer to ignorant people in this shloka. He calls them creatures. It is a subtle hint that as long as we operate with body identification, we are similar to animals who also operate only at that level.

just as the space does not get wet when there is rain, the space does not get burned when there is fire; in the same way, the space like consciousness is not tainted by pāpaṁ also; and it is not improved by puṇyaṁ also.

Either identify with the body throughout or dis-identify from the body throughout; partial identification is dangerous philosophy. Therefore, at the body level karma is there, karma phalam is there, and therefore laws of karma will function. Therefore at the body level, I have to be dharmic; but I have to own up my punya pāpa athītha svarupam; at the level of the ātma; therefore we should not mix up the higher self and the lower self.

।। हिंदी समीक्षा ।।

वेदांत मतानुसार प्रकृति एवम आत्मा का मूल एक निर्गुण परमेश्वर है और वह सांख्यवालो के आत्मा के समान उदासीन एवम अकर्ता है और सारा कर्तृत्व भार माया अर्थात प्रकृति का है। अतः इस संसार के बनने या बिगड़ने में उस को कोई लगाव नही।सम्पूर्ण जगत का अपने संकल्प द्वारा संचालन करने वाले, सर्व शक्तिमान सगुण निराकार परमेश्वर यद्यपि सब को शक्ति, बुद्धि और इंद्रियां आदि उन के कर्मानुसार वे ही प्रदान करते है तो भी वो उन के कर्मो को ग्रहण नही करते। इसलिये देव, मनुष्य आदि के रूप में समस्त यज्ञओ के भोक्ता होने पर भी तथा भक्तों द्वारा अर्पित की हुई वस्तुए एवम क्रियाए स्वीकार् हुए भी उन सब से उसी प्रकार संबंध रहित है। वो सृष्टि की रचना एवम पालन के कर्म को कर्ता हुआ भी अकर्ता ही है।

सांख्य योग प्रकृति और आत्मा यही दो तत्व को मान्यता देता है किंतु वेदांत में समस्त आत्माएं परब्रह्म का अंश है और प्रकृति भी उसी से उत्पन्न है। अतः सृष्टि की उत्पत्ति परब्रह्म के संकल्प से हुई है जिस ने माया और प्रकृति से स्वचालित सृष्टि को स्वरूप दिया है। इस सृष्टि में वह आत्मा के स्वरूप में प्रत्येक जड़ और चेतन में समाया हुआ है। जीव को प्रकृति माया और अपने त्रियामी गुणों से नियंत्रित करती है और कार्य कारण के सिद्धांत से प्रत्येक कार्य के फल हो उत्पन्न करती है। जीव को मन, बुद्धि और विवेक आदि उस के कर्म फल से मिलता है जो उस की कामना, आसक्ति, राग – द्वेष, लोभ, मोह और अहम पर निर्भर है। क्योंकि प्रत्येक जीव में परमात्मा का अंश स्वरूप में निवास है तो वह समस्त यज्ञ का कर्ता और भोक्ता है किंतु उस के द्वारा कोई भी कार्य न तो संपादित किया जाता है और न ही वह कुछ करता है जो कुछ करती है वह प्रकृति है, इसलिए वह न ही कर्ता है और न ही भोक्ता।

कर्मफल का भागी होना दो प्रकार से होता है जो कर्म करता है वह भी कर्मफल का भागी होता है और जो दूसरे से कर्म करवाता है वह भी कर्मफल का भागी होता है। परन्तु परमात्मा न तो किसी के कर्म को करनेवाला है और न कर्म करवाने वाला ही है अतः वह किसी के भी कर्म का फल भागी नहीं हो सकता। सूर्य सम्पूर्ण जगत् को प्रकाश देता है और उस प्रकाश के अन्तर्गत मनुष्य पाप और पुण्यकर्म करते हैं परन्तु उन कर्मों से सूर्य का किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा तत्त्व से प्रकृति सत्ता पाती है अर्थात् सम्पूर्ण संसार सत्ता पाता है। उसी की सत्ता पाकर प्रकृति और उस का कार्य संसार शरीरादि क्रियाएँ करते हैं। उन शरीरादि से होने वाले पाप पुण्यों का परमात्मतत्त्व से किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। कारण कि भगवान् ने मनुष्य मात्र को स्वतन्त्रता दे रखी है अतः मनुष्य उन कर्मों का फलभागी अपने को भी मान सकता है और भगवान् को भी मान सकता है अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों और कर्मफलों को भगवान् के अर्पण भी कर सकता है। जो भगवान् की दी हुई स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करके कर्मों का कर्ता और भोक्ता अपने को मान लेता है वह बन्धन में पड़ जाता है। उसके कर्म और कर्मफल को भगवान् ग्रहण नहीं करते। परन्तु जो मनुष्य उस स्वतन्त्रता का सदुपयोग कर के कर्म और कर्मफल भगवान् के अर्पण करता है वह मुक्त हो जाता है। उस के कर्म और कर्मफल को भगवान् ग्रहण करते हैं।

ईश्वर के विषय में यह धारणा है कि मेघों के ऊपर कहीं आकाश में बैठा विश्व भर के प्राणियों के शुभअशुभ कर्मों का निरीक्षण करते हुए उनका ख्याल रखता है जिस से प्रलय के पश्चात् न्याय के दिन जब समस्त जीव उसके पास पहुँचें तो वह उन का कर्मानुसार न्याय कर सके। यह रोचक धारणा केवल सामान्य जनों की ही हो सकती है जिन की बुद्धि अधिक विकसित नहीं है।समस्त विश्व के अधिष्ठान स्वरूप परमात्मा को जीवन के कर्मों से कोई प्रयोजन हो या परिच्छिन्न वस्तुओं में उस की कोई विशेष रुचि हो ऐसा हम नहीं मान सकते। परमार्थ की दृष्टि से तो परिच्छिन्न जगत् का आत्यन्तिक अभाव है। केवल आत्म विस्मृति के कारण ही उपाधियों में व्यक्त हुआ वह आत्मा कर्तृत्व कर्म फलभोग आदि से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है। समतल काँच के माध्यम से निर्गत सूर्यप्रकाश में कोई विकार नहीं होता परन्तु यदि वही प्रकाश एक प्रिज्म (आयत) में से निकले तो सात रंगों में विभाजित हो जाता है। इसी प्रकार एकमेव अद्वितीय सर्वव्यापी परिपूर्ण परमात्मा शरीर मन और बुद्धि इन आविद्यक उपाधियों में व्यक्त होकर नानारूप जगदाभास के रूप में प्रतीत होता है।यहाँ ज्ञान और अज्ञान के सम्बन्ध का सुन्दर वर्णन किया गया है। अज्ञान ज्ञान नहीं हो सकता और न ज्ञान अज्ञान का एक अंश। परस्पर विरोधी स्वभाव के कारण इन दोनों का सह अस्तित्व सम्भव नहीं हो सकता हैं। परन्तु यहाँ कहा गया है कि अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत हुआ है यह ऐसे ही है जैसे किसी जंगल में सर्वत्र व्याप्त अंधकार में दूर कहीं प्रकाश की किरण को देखकर कहा जा सकता है कि वह प्रकाश अंधकार से आवृत है।

अज्ञान से ज्ञान के आवृत होने का एक कारण है कि इंद्रियां, मन, बुद्धि सभी प्रकृति के अन्तर्गत है और जीव ही परब्रह्म का अंश है। जब तक अंतःकरण मन एवम बुद्धि से भी परे परमतत्व को नही ग्रहण करता, तब तक वह

और परमब्रह्म का ज्ञान अधूरा है। अतः जिन साधनों से साध्य तक पहुँच जाते है, उन साधनों के रहते जीव और परब्रह्म में अंतर रहता है। जीव का ज्ञान प्रकृति के अज्ञान से ढक जाता है। जब भी वह मुमुक्षु की भांति अंतःकरण को मन और बुद्धि दोनो से निराकरण कर के परब्रह्म से नही जुड़ता, उस की समस्त क्रियाए प्रकृति एवम अज्ञान की रहती है, वह चाहे स्वर्ग लोक से ब्रह्मलोक या मृत्यु लोक तक की क्यों न हो।

इसे एक उदाहरण से समझे की कृत्रिम बुद्धि से जो यंत्र तैयार होगा उस की सामग्री भौतिक अर्थात पंच तत्व की होगी। उस का निर्माण कारखाने में होगा। उस में विशेष प्रकार का कार्यक्रम उस की योग्यता और आवश्यकता के अनुसार डाला जाएगा। उस का उपयोग करने वाला उस से किस प्रकार का कार्य ले सकता, यह निमार्ण कर्ता बताता है किंतु किस प्रकार का कार्य लेगा, यह उस यंत्र को खरीदने वाला तय करता है। किंतु यंत्र उस के कार्य के कितना कार्य सफलता पूर्वक कर पाएगी, यह यंत्र के निर्माण, उस के प्रोग्राम, क्षमता, उपयोगिता एवम उपयोगकर्ता पर निर्भर है। इस में कारखाने के मालिक का यंत्र के कर्ता और भोक्ता अर्थात लक्ष्य तय होते हुए भी कोई भी रोल नही है।

अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढका जाने के कारण सब जीव मोहित हो रहे हैं। अपने विवेक के द्वारा उस अज्ञान का नाश कर देने पर जिस ज्ञान का उदय होता है उस की महिमा आगेके श्लोक में हम पढ़ेंगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.15।।

।। अज्ञान और जीव ।। विशेष - 5.15 ।।

पूर्व श्लोक में जब यह ज्ञान द्वारा बताया जाता है कि जो भी क्रियाए हो रही है, वह प्रकृति से होती है और जीव साक्षी, अकर्ता, एवम नित्य है तो ज्ञान का उदय होता है। ज्ञान कर्मयोग, सांख्य योग, भक्ति योग एवम ध्यान योग की वह दशा या स्थिति है, जिस में जीव को ज्ञात है कि वह कर्ता भी नही है और भोक्ता भी नही है। किंतु उस का ज्ञान अभी भी अज्ञान से ढका हुआ है क्योंकि वह जो यह जानता है, और परमात्मा दो अलग अलग है।

अज्ञान और ज्ञान यद्यपि दो विपरीत से शब्द है किंतु वास्तव में नही। यह ऐसा ही है कि अंधेरे का अर्थ वहां प्रकाश का न होना। हर व्यक्ति अपने अपने अनुभव, शिक्षा एवम उम्र के हिसाब से ज्ञान रखता है। इसलिये की उस का ज्ञान आप के ज्ञान से मेल नही खाता वो अज्ञानी है, कोई किसी को अज्ञानी नही बोल सकता।

परमात्मा के विषय मे विभिन्न अनुभव, धर्म एवम धारणा के कारण जो सांख्य मत में विस्वास नही रखते उन की अज्ञानी कहना गलत है क्योंकि उन के लिए परमात्मा उदासीन नही, रक्षक, न्याय करने वाला दाता है। उन को इस विषय पर अपने अपने अनुभव भी अनेक होंगे। गीता में यह भी लिखा है कि जो उस को जिस भाव से पूजता है परमात्मा उसे उसी रूप में स्वीकार करता है।

जो लोग कठिन आराधना करते है, व्रत–उपवास, जप–तप आदि करते है, या आवेश में सर घुमाते है, या भूत–प्रेत, देवी देवताओं का आव्हान करते है, यज्ञ करते है, वह सब परमात्मा को स्वीकार होते हुए भी, परमात्मा उस के लिये अपने ऊपर कोई उत्तरदायित्व नही लेता।

यदि हम मोक्ष की बात या इस संसार की रचना की बात करे तो हमारे समक्ष सांख्य योग, कर्म योग और भक्ति योग की बात आती है। यह शरीर प्रकृति की देन है, एवम नश्वर है और इसे कोई भी इंकार नही कर सकता। कर्म बंधन में जितने भी कर्म किये जाते है उसे इसी शरीर से भोगा जा सकता है अतः उस को भोगने के लिये बार बार विभिन्न शरीर धारण करना पड़ता है। यह बंधन किसी भी आत्मा के लिये संतुष्ट दायक नही हो सकता। यह नियम इस बात का प्रतीक है कि यद्यपि ईश्वर हमारे सभी पूजे जाने वाले तरीको को उसी रूप में स्वीकार करता है जिस रूप में हम पूजते है किंतु वह हमारे कर्म के फल को स्वीकार नही करता और कर्म के फल शरीर के साथ चेतन को तब तक भोगने पड़ते है जब तक उस का चेतन अपने अहम एवम कामना को त्याग कर चेतन्य हो कर आत्मा से नही मिल जाता।

इस क्रम से मुक्ति का मार्ग ही इन तीनो योगों का ज्ञान योग है। जो इस मार्ग को नही जानता अर्थात जिस ने अपने स्थित इस ज्ञान को प्रकाशित नही किया वो अज्ञान में है ऐसा माना जा सकता है। क्योंकि किसी भी मार्ग से हम चले अंत मे वो सभी एक ही स्थान पर मिलते है।

क्योंकि ज्ञान युक्त परमतत्व अकर्ता एवम उदासीन है एवम मात्र शरीर एवम प्रकृति की क्रियाओं का साक्षी है। अतः परमतत्व अद्वेत है। इसलिये उस का अनुभव और ज्ञान भी अज्ञात है। जब दूसरा कोई नही तो ज्ञान भी किसी को बताया नही जा सकता। इसलिये जो भी मार्ग योग के लिये उपलब्ध है वो उस तक पहुचने का मार्ग भर ही है। जब कोई दूसरा रहता ही नही तो ज्ञान का प्रसार या प्रचार हो ही नही सकता। इसलिये जो भी परमतत्व को नही जानता वो किसी न किसी रूप में अज्ञानी ही है। अतः हम कह सकते है अज्ञान शब्द ज्ञान की मात्रा का सूचक है, विषय संबंधित ज्ञान कम या अधिक हो सकता है किंतु बिल्कुल न हो यह संभव नही। इस के लिये मुमुक्षु हो कर मन और बुद्धि से भी परे अंतःकरण की शुद्धि की आवश्यकता है।

ज्ञान शब्दिक नही हो सकता, यह पढ़ कर, लिख कर, सुना कर या मनन कर के प्राप्त किया जा सकता है किंतु जब तक कर्ता या भोक्ता भाव है, यह परमात्मा के द्वारा प्रकृति के अज्ञान से ढका हुआ है। क्योंकि मन, बुद्धि भी प्रकृति ही है, वह कब, कैसे और कहाँ बदल जाये, कौन कह सकता है। प्रकृति को नियंत्रित कर के योग द्वारा ज्ञान तक पहुँचा जा सकता है, किन्तु विभिन्न जीव के ज्ञान को भी परमात्मा से अज्ञान से ढक दिया है, जिस से जीव इस सृष्टि का ही हिस्सा बना रहे। ज्ञान का उदय ह्रदय के अन्तकरण से होगा, जब तक मन एवम बुद्धि से ज्ञान को खोजेंगे, तो वह प्रवक्ता के भांति परमात्मा की विवेचना ही होगी। अंतःकरण जब तक शुद्ध–बुद्ध एवम आनन्दमय हो कर परमात्मा से नही मिलता, तब तक ज्ञान अज्ञान से ढका है।

ज्ञान और अज्ञान दोनो ही परमात्मा से मिलते है, किन्तु यह उस की व्यवस्था है जो प्रकृति माया द्वारा करती है, वह निमायक हो कर भी कुछ नही करता और यही उस के दिव्य कर्म भी है।

अष्टावक्र जी कहते है––

तुम आत्मस्वरूप संगरहित हो, निष्क्रिय (जिसमें कोई क्रिया नहीं होती) और स्वयंप्रकाश हो और समस्त दोषों से भी मुक्त हो । ऐसा जानते हुए भी जो समाधि में बैठना चाहता है या ऐसा करने का प्रयत्न कर रहा है – वही बन्धनों में उलझ रहा है । समाधि का प्रयास भी एक बन्धन है, क्योंकि इस प्रयास के अन्दर ही तुम्हारे अभिलाषाएं छिपी हुई हैं। जबतक कामना है, मोक्ष की प्राप्ति असंभव है ।। यही कामना ही अज्ञान है जो ज्ञान को ढक कर रखती है।

जब जीव स्वयं ब्रह्म का अंश है तो वह ज्ञानवान और प्रकाशवान तो है ही। उस के स्वरूप में प्रकृति के संयोग होने से कर्ता और भोक्ता भाव के अज्ञान का परदा आ जाता है। जैसे दर्पण पर धूल जम जाए तो देखने वाले को अपना स्वरूप नही दिखेगा किंतु यदि वह दर्पण साफ कर ले तो उसे अपना स्वरूप दिखेगा। यही अज्ञान दर्पण पर पड़े धूल के समान है, जिस ने ज्ञान और प्रकाश को धारण किए ब्रह्म के अंश जीव को भ्रमित कर रखा है।

परमतत्व का मार्ग हम पढ़ और सुन सकते है किंतु परमतत्व का ज्ञान बिना स्वयं को पहुचाये नही मिल सकता। गीता में अब गहन अध्ययन का पाठ शुरू हो गया है, जिसे ध्यान से पढ़ने एवम मनन द्वारा ही समझा जा सकता है।

।। हरि ॐ तत सत।। विशेष 5.15 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.16॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

"jñānena tu tad ajñānaṁ,
yeṣāṁ nāśitam ātmanaḥ..।
teṣām āditya-vaj jñānaṁ,
prakāśayati tat param"..।।

भावार्थ :

किन्तु जब मनुष्य का अज्ञान तत्वज्ञान (परमात्मा का ज्ञान) द्वारा नष्ट हो जाता है, तब उस के ज्ञान के दिव्य प्रकाश से उसी प्रकार परमतत्व–परमात्मा प्रकट हो जाता है जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से संसार की सभी वस्तुएँ प्रकट हो जाती है। (१६)

Meaning:

For those who have destroyed ignorance through knowledge, such knowledge illumines the eternal essence, just like the sun.

Explanation:

In this shloka, Shri Krishna compares the dispelling of ignorance to the dispelling of darkness by the sun. The light of the sun does not create anything new. It just shows us what was already there, but was hidden by darkness. Similarly, the knowledge of the eternal essence does not create anything new in us. It just reveals our true nature.

Why does Shri Krishna emphasize knowledge so much? The central theme of the Gita is the removal of delusion. The root cause of delusion is ignorance, which is nothing but our identification to the body, mind and intellect. All our efforts should be towards uprooting this ignorance through the correct knowledge. However, our lives are spent in trying to solve problems at the worldly level.

There is always one aspect of our lives that is incomplete or imperfect. For some of us, it could be our job. For others, it could be our family and friends. For some others, it could be our health. Given these various imperfections, we try to better our situation by changing our job, friends and so on. This results in a roller coaster ride of joys and sorrows.

So karma yoga leads to liberation, bhakthi yoga leads to liberation, raja yoga leads to liberation, all these things are not acceptable to Krishna, not acceptable to veda also. This many path philosophy is not vedic. There are many paths to purify the mind, that is the confusion. There are many paths to purify the mind, but there is only one path to liberation.

There are not many margas to mokṣa, tamevaṁ vidvan, vidvsn means jnani; jnanam alone liberates. And therefore Krishna says here knowledge alone destroys that ignorance.

Darkness is responsible for creating illusions. In the darkness of the cinema hall, the light falling on the screen creates the illusion of reality and people get absorbed in watching it. However, when the main lights in the cinema hall are switched on, the illusion is dispelled and people wake up from their reverie to realize that they were only watching a movie. Similarly, in the darkness of ignorance, we identify ourselves with the body, and consider ourselves to be the doers and enjoyers of our actions. When the light of God's knowledge begins shining brightly, the illusion beats a hasty retreat, and the soul wakes up to its true spiritual identity, even while it lives in the city of nine gates. The soul had fallen into illusion because God's material energy (avidyā śhakti) had covered it in darkness. The illusion is dispelled when God's spiritual energy (vidyā śhakti) illumines it with the light of knowledge.

Now the question is which knowledge; that is also important; any knowledge cannot destroy any ignorance; a particular- knowledge can destroy only a particular- ignorance; but it cannot destroy Self- ignorance. Vedanta calls him an educated- ignorant person; other people are illiterate- ignorant people; these people are educated ignorant people. And therefore, Krishna very carefully uses the word atmanaḥ jnanena atmanaḥajnanam naśitam; through self- knowledge alone self- ignorance is destroyed.

Systematic consistent study of the vedantic scriptures for a length of time, under the guidance of a competent acarya, it is called gyaan yog and with this wonderful Self you are; that higher Self, the self-knowledge will reveal like SUN who mitigates entire darkness.

But if we take a truly objective look at this situation, it turns out that we are looking for perfection in the material world, which will always be imperfect. Shri Krishna says here that the only way to get to the root of this problem is to remove our ignorance of the eternal essence.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जिन जीवों के अन्तःकरण का वह अज्ञान जिस अज्ञान से आच्छादित हुए जीव मोहित होते हैं आत्मविषयक विवेकज्ञान द्वारा नष्ट हो जाता है उन का वह ज्ञान सूर्य की भाँति उस परम परमार्थतत्त्व को प्रकाशित कर देता है। अर्थात् जैसे सूर्य समस्त रूपमात्र को प्रकाशित कर देता है वैसे ही उन का ज्ञान समस्त ज्ञेय वस्तु को प्रकाशित कर देता है। यह अज्ञान है जीव का स्वयं को न पहचान कर कि वह एकमात्र परमब्रह्म का अंश है, स्वयं को प्रकृति के साथ जोड़ कर कर्त्ता भाव मे रहना एवम प्रकृति जनित उपलब्धियों में कामना, आसक्ति एवम मोह रखना।

सिनेमा में अंधेरे में जब हम चलचित्र देख रहे होते है तो चलचित्र की कहानी, पात्र और घटना क्रम में इतना खो जाते है कि हम भूल जाते है कि जो हम देख रहे है, वह एक नाटकीय प्रदर्शन है। फिर जब सिनेमा घर की समाप्ति पर लाइट शुरू होने से सब कुछ स्पष्ट होने लगता है। यह अज्ञान से ज्ञान के प्रकाश का छोटा सा उदाहरण है।

सूर्य को देखने के लिए किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है आत्मानुभव के लिए भी किसी अन्य अनुभव की अपेक्षा नहीं है वह चित् स्वरूप है। चित् की चेतना के लिए किसी दूसरे चैतन्य की अपेक्षा नहीं है। ज्ञान का अन्तर्निहित तत्त्व चेतना ही है। अत अहंकार आत्मा को पाकर आत्मा ही हो जाता है। स्वप्न से जागने पर स्वप्नद्रष्टा अपनी स्वप्नावस्था से मुक्त होकर जाग्रत् पुरुष बन जाता है। वह जाग्रत् पुरुष को कभी भिन्न विषय के रूप में न देखता है और न अनुभव करता है बल्कि वह स्वयं ही जाग्रत् पुरुष बन जाता है। ठीक इसी प्रकार अहंकार भी अज्ञान से ऊपर उठकर स्वयं आत्मस्वरूप के साथ एकरूप हो जाता है। अहंकार और आत्मा का सम्बन्ध तथा आत्मानुभूति की प्रक्रिया का बड़ा ही सुन्दर वर्णन सूर्य के दृष्टान्त द्वारा किया गया है जिस के लक्ष्यार्थ पर सभी साधकों को मनन करना चाहिये। आत्मनिष्ठ पुरुष सदा के लिए जन्ममरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।

हम सब का सामान्य अनुभव है कि प्रावृट् ऋतु में कई दिनों तक सूर्य नहीं दिखाई देता और हम जल्दी में कह देते हैं कि सूर्य बादलों से ढक गया है।इस वाक्य के अर्थ पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य बादल के छोटे से टुकड़े से ढक नहीं सकता। इस विश्व के मध्य में जहाँ सूर्य अकेला अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान है वहाँ से बादल बहुत दूर है। पृथ्वी तल पर खड़ा छोटा सा मनुष्य अपनी बिन्दु मात्र आँखों से देखता है कि बादल की एक टुकड़ी ने दैदीप्यमान आदित्य को ढक लिया है। यदि हम अपनी छोटी सी उँगली अपने नेत्र के सामने निकट ही लगा लें तो विशाल पर्वत भी ढक सकता है।इसी प्रकार जीव जब आत्मा पर दृष्टि डालता है तो उस अनन्त आत्मा को अविद्या से आवृत पाता है। यह अविद्या सत् स्वरूप आत्मा में नहीं है जैसे बादल सूर्य में कदापि नहीं है। अनन्त सत् की तुलना में सीमित अविद्या बहुत ही तुच्छ है। किन्तु आत्मस्वरूप की विस्मृति हमारे हृदय में उत्पन्न होकर अहंकार में यह मिथ्या धारणा उत्पन्न करती है कि आध्यात्मिक सत् अविद्या से प्रच्छन्न है। इस अज्ञान के नष्ट होने पर आत्मतत्त्व प्रकट हो जाता है जैसे मेघपट हटते ही सूर्य प्रकट हो जाता है।

जैसे प्रकाश के फैलने से अंधकार दूर होता है और प्रकाश के मध्य कोई वस्तु रखने से वस्तु के पीछे प्रकाश नही रहता। अतः प्रकाश को फैलाने के लिए उस मे बाधक समस्त वस्तुओं को हटाना आवश्यक है। ज्ञान का प्रकाश अज्ञान के अंधेरे को मिटाता है जिस से हम वो वस्तु भी देख सकते है जिसे हम अज्ञान के अंधेरे से नही देख पा रहे। अहम एवम कामना अज्ञान का अंधेरा ही है जिसे ज्ञान द्वारा मिटा कर परमतत्व की पहचान एवम देख सकते है।

उत्पत्ति–विनाशशील संसार के किसी अंश में तो हमने अपने को रख लिया अर्थात् मैं–पन (अहंता) कर लिया और किसी अंश को अपने में रख लिया अर्थात् मेरापन (ममता) कर लिया। अपनी सत्ता का तो निरन्तर अनुभव होता है और मैं–मेरापन बदलता हुआ प्रत्यक्ष दीखता है; जैसे––पहले मैं बालक था और खिलौने आदि मेरे थे, अब मैं युवा या वृद्ध हूँ और स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि मेरे हैं। इस प्रकार मैं–मेरेपन के परिवर्तन का ज्ञान हमें है, पर अपनी सत्ता के परिवर्तन का ज्ञान हमें नहीं है––यह ज्ञान अर्थात् विवेक है। विवेकके सर्वथा जाग्रत् होनेपर परिवर्तनशील की निवृत्ति हो जाती है। परिवर्तनशील की निवृत्ति होने पर अपने स्वरूप का स्वच्छ बोध हो जाता है जिस के होते ही सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्व प्रकाशित हो जाता है अर्थात् उसके साथ अभिन्नताका अनुभव हो जाता है।

कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग और सांख्य योग का प्रथम चरण आत्म शुद्धि है। आत्मशुद्धि का अर्थ अपने विकारों को समझ कर उस से मुक्त होना अर्थात त्रियामी प्रकृति के सत्व गुण को प्राप्त करना। किंतु मुक्ति के लिए वेदांत का मानना है कि हमे ज्ञान योग से ज्ञान को प्राप्त करना है, जिसे योग्य गुरु की देखरेख में पूरा किया जाए।

ज्ञान किसे कह सकते है, आजकल स्कूल में जो ज्ञान प्राप्त कर के जो हम CA, वकील, शिक्षक, डॉक्टर या इंजीनियर या वैज्ञानिक बनते है वह ज्ञान सांसारिक जीविका उपार्जन का ज्ञान है। वेदांत में हम इसे शिक्षित अज्ञानी पुरुष कह सकते है। द्वितीय ज्ञान जो हमे धर्म ग्रंथो, पंडितो, शास्त्रों, वेद और पुराणों से मिलता है, वह आत्म शुद्धि या आत्म संतुष्टि का ज्ञान है, इस से कर्म काण्ड तो पूरे हो सकते है, आत्मशुद्धि भी हो सकती है किंतु मुक्ति या मोक्ष नहीं। ऐसे ज्ञान के लोगो को धार्मिक अज्ञानी लोग कह सकते है। हमे यह भी याद रखना चाहिए कि यदि शिक्षित अज्ञानी लोग या धार्मिक अज्ञानी लोग लोभ, मोह, काम, क्रोध या अहम को नही त्याग पाते तो यह मानव जाति के लिए और सृष्टि के लिए विनाशकारी होता है।

अतः ज्ञान का अर्थ है अपने अज्ञान को खोजना, जैसे ही जीव अपने ज्ञान स्वरूप को पहचान लेता है और अज्ञान से उस का परदा हट जाता है तो वह स्वयं ब्रह्म का अंश होने से प्रकाशवान अर्थात सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए वेद, शास्त्र और गुरु की आवश्यकता होती है किंतु यह केवल मार्ग प्रदर्शित करते है, जिस पर जीव को स्वयं चलना होता है। ज्ञानयोग इसी ज्ञान का एक मार्ग है जिसे अब भगवान द्वारा कहा जाएगा। किंतु ज्ञान के श्रवण, मनन और निधिध्यासन द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

ज्ञानी ब्रह्मविद या ब्रह्मसंध हो जाने के बाद अद्वैत की स्थिति में होता है। उस समय जब अन्य कोई न हो, तो कौन किस को ज्ञान देगा। इसलिए ब्रह्मसंध समझता है, यह शरीर और क्रियाएं प्रकृति कर रही है, वह मात्र साक्षी है तो वह प्रकृति के निमित्त हो कर प्रकृति प्रदत्त क्रियाओं को करता है। यह योग्य गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान भी है।

ज्ञान हमेशा अज्ञान की परिधि से घिरा रहता है, जितना छोटा ज्ञान उतनी ही कम मात्रा में उस के अज्ञान की परिधि। यह ज्यामिति के चक्र की परिधि के नियम के समान है, जितना छोटा च्रक उतनी छोटी उस की परिधि। अतः जब तक ज्ञान का विस्तार नहीं होता हमे भी अपने अज्ञान का ज्ञान नही होता।

मनुष्य का मस्तिक असीमित ब्रह्म की संभावनाएं ले कर जन्म लेता है। हम उस मे जिस भी ज्ञान को प्रकाशित करते है वो ज्ञान प्रकाशमय हो जाता है। जैसे कोई डॉक्टर, कोई इंजिनियर तो कोई सैनिक तो कोई अकाउंटेंट बनता है। यह सब उन के द्वारा मस्तिक के किसी भी सेल का ज्ञान प्रकाशित करने के समान है क्योंकि कोई भी जन्मजात किसी विद्या को ले कर जन्म नही लेता। अतः ज्ञान द्वारा ही अज्ञान को दूर किया जा सकता है और जो ज्ञान द्वारा अज्ञान को दूर करता है वो ही ज्ञानी कहलाता है। हमारा वेद मंत्र " तमसो मा ज्योतिर्गमय" इसी की पुष्टि करता है।

इसी प्रकार परमात्मतत्त्व स्वतःसिद्ध है पर अज्ञान के कारण उस का अनुभव नहीं हो रहा था। विवेक के द्वारा अज्ञान मिटते ही उस स्वतःसिद्ध परमात्मा तत्त्व का अनुभव होने लग जाता है।

जिस स्थिति में सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मा तत्त्व का अनुभव हो जाता है उस स्थिति की प्राप्ति के लिये आगे के श्लोक में पढेंगे। गीता का यह अध्याय यहां से ज्ञान योग की ओर मुड़ जाता है अतः अधिक ध्यान से समझने की आवश्यकता है।

।।हरि ॐ तत सत।। 5.16।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.17॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

"tad-buddhayas tad-ātmānas,
tan-niṣṭhās tat-parāyaṇāḥ..।
gacchanty apunar-āvṛttiṁ,
jñāna- nirdhūta- kalmaṣāḥ"..।।

भावार्थ :

जब मनुष्य बुद्धि और मन से परमात्मा की शरण–ग्रहण करके परमात्मा के ही स्वरूप में पूर्ण श्रद्धा–भाव से स्थित होता है तब वह मनुष्य तत्वज्ञान के द्वारा सभी पापों से शुद्ध होकर पुनर्जन्म को प्राप्त न होकर मुक्ति को प्राप्त होता हैं। (१७)

Meaning:

His intellect lies in that, his mind lies in that, his conviction lies in that, his goal lies in that. He reaches that state from which there is no return, (due to) his sins removed by knowledge.

Explanation:

Just as ignorance causes one to suffer in samsara, or the perpetual cycle of life and death, knowledge has the power to release one from material bondage. Such knowledge is always accompanied with devotion to God. This verse makes very emphatic use of words denoting complete God-consciousness.

Tadbuddhayaḥ means the intellect is directed toward God.

Tadātmanaḥ means the heart (mind and intellect) is solely absorbed in God.

Tanniṣhṭhāḥ means the intellect has firm faith in God.

Tatparāyaṇaḥ means striving after God as the supreme goal and refuge.

Thus, the sign of true knowledge is that it leads to love for God. Imbued with such love, devotees see Him everywhere.

Many years ago, I was talking to a renowned musician who made a statement that stuck with me: "You know you are a true musician when you breathe, eat, sleep, walk and talk music. There is nothing in your life but music". That statement reveals how much thirst a person has for his goal.

In this shloka, Shri Krishna illustrates the personality of the seeker whose aspiration for the eternal essence is so intense that his entire personality resonates with that thirst for

the eternal essence. His mind, intellect, conviction, goal - all these are aligned with the eternal essence.

It is important that both the mind and intellect need to be convinced that the only goal worth pursuing is the eternal essence, even if the eternal essence has not yet been realized. It is like the scientists who planned the mission to the moon, yet none of them had ever been on the moon. The mind needs to have love for the moon, and the intellect needs to enjoy the intellectual challenge that the task entails. If only the mind is convinced, it could lead into superstition. If only the intellect is convinced, it could lead into nihilism. Only when mind and intellect are convinced is when the whole personality is oriented towards the eternal essence.

So then, what happens to such a person with intense thirst for the eternal essence? Once he gains the knowledge of the eternal essence, he transcends all duality, including the notion of sins and demerits. Poetically, Shri Krishna puts it as the "state from which there is no return" because all notions of duality have completely disappeared.

।। हिंदी समीक्षा ।।

कर्तृत्व भ्रम ही एक मात्र आवरण होता है, जिस में मन, बुद्धि आदि में अहम, मोह एवम कामना द्वारा पाप एवम पुण्य आदि कर्म फलों का संग्रह हो रहा था। जब यह अज्ञान जन्य कर्तृत्व भ्रम ज्ञान द्वारा शांत हो जाता है तो तब मन बुद्धि और इन की प्रत्येक चेष्ठा या कर्म का ब्रह्माकार होना भी निश्चित है।

जब उस परमतत्व परमात्मा के अनुरूप बुद्धि हो, तत्व के अनुरूप प्रवाहित मन हो, परमतत्व परमात्मा में एकीभाव से उस की रहनी हो और उसी का परायण हो, तो इस प्रकार का व्यापक ज्ञान जिस के हृदय में समाविष्ट हो जाये और आप समदृष्टि को प्राप्त हो तो इसी का नाम ज्ञान है। इस ज्ञान द्वारा पापरहित हुआ पुरुष पुनरागमन रहित हो परमगति को प्राप्त होता है। परमगति को प्राप्त, पूर्ण जानकारी से युक्त पुरुष ही पंडित कहलाते है।

योग या ज्ञान बहस का विषय नहीं है। अक्सर किसी भी ज्ञान को प्राप्त करने से पूर्व ही हम लोग proactive mode में रहते है जिस से प्रत्येक शब्द, वाक्य, गद्य का हम अपनी बुद्धि से विश्लेषण करते है और सही लगे तो स्वीकार करते है और अन्यथा अस्वीकार कर देते है। ज्ञान हमारे मस्तिष्क के पुस्तकालय की भांति जमा हो जाता है जिसे हम कभी भी पढ़ कर सुना सकते है। गीता में यह ज्ञान तत्वविद हो कर आत्मसात करने को कहा गया है। अतः जब तक ज्ञान आप के रोम रोम में नही बसता, वो मात्र पुस्तक की भांति आप से चिपक जाता है। गायक तब तक परिपक्व नही हो सकता जब तक उस का गायन दिल से न हो। अर्जुन में अध्याय एक मे जिस शास्त्र ज्ञान का तर्क दिया था वो उस के मस्तिष्क का पुस्तकालय का ज्ञान था। हमे समझना होगा कि ज्ञान के लिए बुद्धि की कमजोरी को ध्यान आदि से दूर करना आवश्यक है, हमे कुतर्क से भी बच कर चलना होगा और अपने को शरीर मानना या इस भौतिक जगत को ही सत्य समझ कर बहस करने से भी बचना होगा तथा ज्ञान के

लिए विषयो में भी आसक्ति का त्याग होना चाहिए। जब तक हम ज्ञान के लिए तैयार नहीं होते, हमारा ज्ञान सांसारिक ज्ञान बन कर रह जाता है।

तत्वदर्शी हो जाना अर्थात ज्ञानवान होना है, किन्तु जब तत्वदर्शन जीव के रोम रोम में बस जाए तो उस का प्रकृति से संबंध समाप्त हो जाता है, उस के प्रारब्ध एवम संचित कर्म भी प्रकृति के साथ छूट जाते है। वह ब्रह्मस्वरूप जीव मुक्ति के मार्ग की ओर चला जाता है, जहां आनन्द ही आनन्द है।

इसी सच्चिदानंद की प्राप्ति के सब से बड़ी बाधा अहम अर्थात अहंकार है, यह मनुष्य को प्रकृति से सबंध छोड़ कर परमात्मा से जुड़ने नही देता, इस के तत्प्रयनः अर्थात अपने लक्ष्य को और अपने अहम को उस परमब्रह्म से जोड़ना है। अपना अस्तित्व तक भी इस में समाप्त करना ही अपने अहंकार को नष्ट करना है। इस से मनुष्य के अंदर एक आंतरिक स्वतंत्रता आ जाती है और वह अपने को सुरक्षित, सांसारिक बाधाओं से मुक्त और चिंता रहित हो कर परमात्मा के शरणागत हो जाता है।

जब मनुष्य की जब समस्त श्रद्धा, विश्वास, प्रेम परमात्मा की अटूट भाव से जुड़ जाता है और वह स्वयं में परमात्मा के स्वरूप को अंगीकृत कर के परमात्मा में अटूट विश्वास से अपने अहम, कामना, आसक्ति को त्याग कर लक्ष्य साथ कार्य करता है तो वह स्थिति तन्निष्ठः कहलाती है।

चिंता मुक्त मनुष्य अब अपने आप को सुधारने में लग जाता है और जो वह दूसरों से अपेक्षा रखता था या दूसरों में सुधार चाहता था या दूसरों के प्रति कामना और आसक्ति रखता था, वह उस के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने आप में खोजना और तैयार करना शुरू कर देता है, इसे तत्बुद्धिह की स्थिति अर्थात ज्ञान प्राप्ति की स्थिति कहते है। ज्ञान से परमात्मा को समर्पित हो जाने से मनुष्य अहम, कामना, आसक्ति, मोह से मुक्त हो कर अपने स्वरूप को पहचानने लगता है। उस अहम परमात्मा से जुड़ने लगता है।

इस के बाद की स्थिति तताात्मनः की होती है, जो जीव को अपने अहम को त्यागने की है। यह अत्यंत कठिन है क्योंकि पुस्तके और ज्ञान को जीव भरपूर प्राप्त कर सकता है किंतु स्वयं का अस्तित्व परमात्मा से मिलाने के लिए अपने को विलीन करना संभव नही। जीव ब्रह्म अंश में सब से पहले अहम अर्थात महंत से जुड़ा फिर बुद्धि और मन आए, तत्पश्चात सूक्ष्म इंद्रियां और पंचभूत तत्व जुड़े। इस प्रकार जीव का सूक्ष्म शरीर तैयार हो कर विभिन्न भौतिक शरीर में जीवन – मृत्यु के चक्कर लगाता और और अपने कर्मो को भोगता है। इस में कुछ कर्म संचित होते है और कुछ संचित में प्रारब्ध कर्म हो कर क्रियमाण हो जाते है। किंतु जब जीव तताात्मनः की स्थिति को प्राप्त करता है तो संचित कर्म नष्ट हो जाते है। आज जब हम कहते है कि ईश्वर की शरण जाने से ईश्वर हमारे पापो को क्षमा कर देता है तो वह यही स्थिति है। किंतु जीव तताात्मनः की स्थिति में भी प्रारब्ध को भोग कर ब्रह्मलीन होता है, उस का पुनः जन्म नही होता।

भक्ति योग, कर्मयोग और सांख्य योग में यह एक मार्गीय यात्रा ज्ञान योग की शुरू होती है। जो जीव को शास्त्रों, गुरु और स्वयं के प्रयास से प्राप्त करनी होती है। इसे आगे हम विस्तार से जानेंगे।

कर्म योगी मन को परमात्मा के स्वरूप में निश्छल रूप से स्थित करने के लिए उन के आनन्दमय स्वरूप का चिन्तन करते है। यह आनन्द अनंत प्रकार से जैसे पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान आनन्द,

अनन्त आनन्द, सम आनन्द, अचिन्त्य आनन्द, चिन्मय आनन्द, एक एकमात्र आनन्द ही आनन्द हो सकता है। आनन्द से भिन्न कुछ अन्य कोई वस्तु हो ही नही सकता। इस प्रकार निरंतर मनन करते करते सचिदानंद घन परमात्मा में मन का अभिन्न भाव से निश्चल हो जाना ही मन का तद्रूप होना है।

अष्टावक्र जी कहते हैं--

तुम निरपेक्ष (अपेक्षा रहित हो), निर्विकार (विकार रहित) हो, निर्भरः (जिसपर सभी निर्भर हैं) हो, शान्ति के स्थान हो, अगाध बुद्धि (अति विस्तृत बुद्धिरूप) हो और अक्षोभ (क्षोभ रहित) हो । तुम्हारा इस प्रकार का चैतन्यमात्र स्वरूप है, अतः तुम अपने वास्तविक रूप में वास करो । तुम आत्मस्वरूप होने से शान्ति और मुक्ति का स्थान हो , अशान्ति आत्मा का स्वभाव नहीं है ।

इस प्रकार जिस का अज्ञान नष्ट हो जाये, उस कर्म योगी की ब्रह्मभुत या जीवन्मुक्त अवस्था को हम आगे और विस्तृत रूप में पढेंगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.17।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.18॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

'vidyā-vinaya-sampanne,
brāhmaṇe gavi hastini..।
śuni caiva śva-pāke ca,
paṇḍitāḥ sama-darśinaḥ"..।।

भावार्थ :

तत्वज्ञानी मनुष्य विद्वान ब्राह्मण और विनम्र साधु को तथा गाय, हाथी, कुत्ता और नर–भक्षी को एक समान दृष्टि से देखने वाला होता हैं। (१८)

Meaning:

A brahman endowed with knowledge and sense control, a cow, an elephant, a dog, even a dog-eater - the wise person perceives (all these) as one.

Explanation:

Shri Krishna further elaborates on the vision of a realized seeker in this shloka. Unlike most of us how tend to focus on the differences, the realized seeker focuses on the eternal essence which is common in every plant, animal, human, situation and inanimate object. In chapter two, we saw the example of the child who wants a cookie shaped like a lion, whereas the adult does not really care because his focus is in the dough that is common within each cookie.

A spectrum of entities has been laid out before us, from the braahman that has a high level of sattva, to a cow that has lesser sattvic content, all the way to an individual with a miniscule, almost non-existent level of sattva. Shri Krishna says that the wise person sees the eternal essence in all of them.

For a jñāni, the whole world is a relaxation ground, nandanavanaṁ, and all trees are kāmadhēnu and all places are Varanasi; all rivers, including coovam is gaṅga is for him; that means world remaining the same, the people remaining the same if the jñānis can enjoy ānanda, it means the problem is not with the world but the problem is in the way that we see the world, our perspective. Therefore, vēdānta is not going to transform the world, but vēdānta is going to transform my perspective of the world.

Therefore, the benefit of knowledge, Krishna says, is sarvatra sama darśanam and this sama darśanam is not through the physical eye; it is through the eye of wisdom.

The Vedas do not support the view that the Brahmins (priestly class) are of higher caste, while the Shudras (labor class) are of lower caste. The perspective of knowledge is that even though the Brahmins conduct worship ceremonies, the Kṣhatriyas administer society, the Vaiśhyas conduct business, and the Shudras engage in labor, yet they are all eternal souls, who are tiny parts of God, and hence alike.

This ability to see the oneness is all is praised throughout our scriptures. In the Raamaayana, Tulsidaas says the one should view both friends and enemies equally. Why? Because when enemies leave, they give sorrow. But when friends leave, they too give sorrow. It is just a matter of perspective.

Now, just because the wise person views everyone with a similar vision does not mean he treats them similarly or deals with them similarly. He will deal with a dog differently

than how he would treat a braahman. How is it possible? It is just like we see our body as one, but we treat our eye differently than we would treat the soles of our feet.

When we perceive things through the perspective of knowledge, it is called prajñā chakṣhu, which means “with the eyes of knowledge.” Shree Krishna uses the words vidyā sampanne to the same effect, but He also adds vinaya, meaning“humbleness.” The sign of divine knowledge is that it is accompanied by a sense of humility, while shallow bookish knowledge is accompanied with the pride of scholarship.

Footnotes

1. "Vinaya" usually means humility, but it is translated as sense control in the context of this shloka.

।। हिंदी समीक्षा ।।

मन का शमन, इंद्रियाओ का दमन, अनुभवी सूत्रपात का संचार, धारावाही चिंतन, ध्यान और समाधि इत्यादि ब्रह्म में प्रवेश दिलाने वाली सारी योग्यताएं उसके अंतराल में स्वाभविक कार्यरत रहती है। यह ब्राह्मणत्व की निम्नतम सीमा है। उच्चतम सीमा तब आती है, जब क्रमशः उन्नत होते होते वह ब्रह्म का दिग्दर्शन कर के उस में विलय पा जाता है। जिसे जानना था, जान लिया। वह पूर्णज्ञाता है।वह ही ब्रह्मसंस्थ है। जब तेरा मेरा छूट गया, जब सभी मे आत्मदर्शन ही हो तो अपूर्णरावृतिवाला ऐसा महापुरुष उस विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण, चांडाल, कुत्ता, हाथी और गाय सब पर सामान दृष्टि वाला होता है। वह जगत के समस्त जीव, जंतु, वृक्ष, पौधों एवम समस्त प्रकृति जन्य वस्तुओं में परमात्मा को देखता है।

शंकराचार्य जी के अनुसार जब जीव द्वैत की अवहेलना और अवज्ञा करना शुरू कर देता है तो वह अद्वैत को प्राप्त होता है। अवहेलना का अर्थ हम सांसारिक विभेद दृष्टि से लेते है क्योंकि सभी जीव प्रकृति के सूक्ष्म शरीर से भौतिक शरीर को धारण करते है। सूक्ष्म शरीर भी आत्मा और प्रकृति के सूक्ष्म अंश का संयोग है। इसलिए जो अपने आत्म स्वरूप को जानता है वह सभी में वही आत्म स्वरूप को देखता है।

भौतिक दृष्टि एवम तत्वज्ञान दृष्टि में भेद बाहरी रूप और आकार को देखने या मूल रूप या तत्व को देखने का है। सभी जड़–चेतन परब्रह्म की रचना है यह बात तत्वदर्शी ही जानता एवम आत्मा से पहचानता है, इसलिये संसारिक विभेद उस मे समाप्त हो जाता है। वह सभी मे परब्रह्म के स्वरूप को ही देखता है।

अपने ज्ञानानुसार ही हमारी जगत् को देखने की दृष्टि होती है। आत्मज्ञानी पुरुष सर्वत्र समरूप विद्यमान दिव्य आत्मतत्त्व का ही दर्शन करता है। समुद्र मे उठती हुई असंख्य लहरों के प्रति समुद्र की अलगअलग भावना नहीं हो सकती। मिट्टी की दृष्टि से मिट्टी से निर्मित सभी घट एक समान ही हैं। इसी प्रकार जिस अहंकार रहित पुरुष ने अपने ब्रह्मस्वरूप को पहचान लिया है उसकी नामरूपमय सृष्टि की ओर देखने की दृष्टि सम बन जाती है। दृष्टिगोचर सभी प्रकार के भेद केवल उपाधियों में ही हैं। मनुष्य मनुष्य में भेद शरीर के रूप और रंग में हो सकता है अथवा मन के स्वभाव या बुद्धि की प्रखरता में। परन्तु जीवन तत्त्व तो सबमें सदा एक ही होता है।

सम भाव सम दृष्टि के पांच अलग अलग वर्ग का उदाहरण दिया गया है। ब्रह्मसंस्थ पुरुष सभी मे एक समान आत्मा को देखता है और जीव को उस के रूप, आकार, ज्ञान एवम व्यवहार के अनुसार यथोचित सम्मान बिना भेद भाव के लोकव्यवहार के अनुसार देता है। यह शरीर के विभिन्न अंगों को समान समझते हुए उन की उपयोगिता के अनुसार उन का उपयोग करने जैसा है।

संत ज्ञानेश्वर एवम स्वामी रामकृष्ण परमहंस आदि ऐसे ही महापुरुष हुए। ज्ञानवेश्वर जी ने भैंस के मुख से वेद पाठ एवम राम कृष्ण परमहंस जी बैल को मारे जाने वाले कोड़ो के निशान अपनी पीठ पर भी दिखाए थे।

एक छोटे बालक को कागज एवम रुपए में फर्क नही मालूम होता है इसलिये वह 500 रुपये के नोट एवम सदाहरण कागज को एक समान समझता है। यह अज्ञान है। ब्रह्म ज्ञानी को फर्क समझता है किंतु आत्मा मोह, कामना, आसक्ति एवम अहम से मुक्त होने के कारण वह सदाहरण कागज एवम 500 रुपये दोनो में कोई मोह या आसक्ति नही रखता। प्रकृति में प्रत्येक प्राणी के अपने अपने गुण धर्म है, समान समझने का अर्थ अंदर की भावना या देखने का दृष्टिकोण है, समान भाव का अर्थ भी अंदर की भावना है। व्यवहार सामने जीव के गुण धर्म से करना पड़ता है। शेर और बिल्ली को समान भाव समझने से शेर पर हाथ फेरना या उस के समीप जाना अज्ञान है।

हमारी भावना के अनुरूप ही हम किसी व्यवहार को समझते है। यदि हमारी भावना अनासक्त, मोहरहित, निःस्वार्थ होगी तो हमारा व्यवहार सभी से प्रेम एवम सम्मान के साथ समान रूप होगा। फिर विद्वान का आदर एवम चांडाल का निरादर नही करेंगे। अतः बिना किसी विभेद के तत्वज्ञानी सामने प्रत्यक्ष प्राणी से व्यवहार उस के गुण और धर्म के अनुसार ही करता है।

हमे यह भी समझ लेना चाहिए कि वेदांत में वर्ण व्यवस्था में विभेद या ऊंच – नीच को कोई मायता नही देता। वर्ण व्यवस्था समाज को चलाने के लिए और जीव के प्राकृतिक गुणों पर आधारित है जिस से ज्ञानी लोग समाज में ज्ञान का प्रसार करे, बलशाली लोग समाज की रक्षा और चतुर लोग व्यवसाय करे और समाज के लिए कर्म करे और अन्य लोग सेवा करे। जो ज्ञानी है वह और जो सेवाभावी है, दोनो अधिकार और कर्तव्य की समानता में कोई अंतर नही होता किंतु दोनो का कार्य क्षेत्र अलग अलग होता है। इसलिए उदाहरण में गाय, हाथी, कुत्ता और नरभक्षी को एक समान दृष्टि से देखने की बात कही गई है।

व्यवहारिक जीवन मे व्यक्तित्व की यह सब से उच्च कोटि की अवस्था है जहां आप अपने ग्राहक, कर्मचारी, व्यापारी बंधु, सेवादारों, मित्रो, रिस्तेदारो आदि से उन के पद एवम कार्य के अनुसार पूर्ण मानवीय व्यवहार रखते हुए सभी को समान रूप से सम्मान देते है। आप राग द्वेष से दूर सभी से प्रेम रखते हुए व्यवहार करते है। यही आप की आन्तरिक ऊर्जा है, हम वही सब को देंगे जो हमारे पास है। यही ब्रह्म के ज्ञाता का व्यवहार है। व्यवहार में प्रत्येक जीव के साथ सावधानी या व्यापार अर्थात कार्य अलग अलग हो सकता है किंतु मन और बुद्धि से राग – द्वेष सभी के प्रति समान होना चाहिए।

यह श्लोक हमारी परमात्मा के प्रति सगुण उपासक के रूप में एक मिथ्या धारणा उस की छवि को ले कर भी स्पष्ट करता है। हम शिव, विष्णु, ब्रह्मा को बचपन से जिस रूप में देखते आए है, उस के अतिरिक्त अन्य स्वरूप में स्वीकार नहीं कर पाते। किंतु परब्रह्म अंश के स्वरूप में कण कण में विद्यमान है। जो ज्ञानी है और तत्वदर्शी है

वह उसी परब्रह्म को संसार में प्रत्येक जीव और जड़ में समान रूप से देखता है। जीव के स्वरूप में अंतर उस के द्वैत भाव का ज्ञान है और अद्वैत भाव में कोई भी अंतर नही, क्योंकि अद्वैत भाव में अन्य कोई भी नही होता।

अगले श्लोक में इस गुण के प्रभाव को समझ कर पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.18।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.19॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

"ihaiva tair jitaḥ sargo,
yeṣāṁ sāmye sthitaṁ manaḥ..।
nirdoṣaṁ hi samaṁ brahma,
tasmād brahmaṇi te sthitāḥ"..।।

भावार्थ :

तत्वज्ञानी मनुष्य का मन सम–भाव में स्थित रहता है, उस के द्वारा जन्म–मृत्यु के बन्धन रूपी संसार जीत लिया जाता है क्योंकि वह ब्रह्म के समान निर्दोष होता है और सदा परमात्मा में ही स्थित रहता हैं। (१९)

Meaning:

Here in this world itself, they have conquered creation, those who establish their intellect in equanimity. For, the eternal essence is defect-free and harmonious; therefore, they are established in the eternal essence.

Explanation:

In the last shloka, Shri Krishna spoke about the wise person who sees the same eternal essence in everyone. Here, he goer deeper into this point and addresses some questions that could come up when trying to understand that shloka.

Sri Krishna uses the word sāmye to mean one possessed of an equal vision toward all living beings, as explained in the previous verse. Further, equality in vision also means to rise beyond likes and dislikes, happiness and misery, pleasure and pain. So long as we

think of ourselves as the body, we cannot attain this equality of vision because we will experience continued desires and aversions for bodily pleasures and discomforts.

When one's mind is situated in this divine consciousness, attachment to bodily pleasures and pains get transcended, and one reaches a state of equanimity. This equipoise that comes through the sacrifice of selfish bodily desires makes one godlike in demeanor.

Consider a hardened criminal. Most of us would classify his behaviour as defective. Now, given the context of the previous shloka where the wise person perceives a criminal and a saint with the same vision. How does it actually happen? To address this point, Shri Krishna mentions in this shloka that the personality of the criminal has the defect, not the eternal essence. The eternal essence is inherently defect-free.

Another question that may arise is this. When and where does one attain the eternal essence? How much time will it take and how far away is it? The answer is that notions such as near/far, and slow/fast are dualities. Any such duality belongs to nature, not the the eternal essence.

And having discovered this beautiful inner nature; a wise man will never like to come down to the perishable incidental superficial body nature. therefore Krishna said nirdōṣaṃ hi samaṃ brahma tasmād-brahmaṇi tē sthitāḥ; having discovered the pure I, the wise people abide in that I only; they do not want to get obsessed with the physical body. They do take care of the physical body as the Lord's property, but they are not obsessed with the incidental superficial mortal physical nature. And what is the reason; nirdōṣaṃ brahma and samaṃ brahma.

Therefore, one whose intellect has transcended duality immediately attains the eternal essence. Notions such as near/far, and slow/fast cease to have meaning.

Finally, Shri Krishna explains that attaining the eternal essence is possible here and now. We do not have to wait for another birth. Following the technique of karma yoga, we have to purify our mind and make it steady and harmonious, so that it can meditate on the eternal essence.

This is one of the discussions in the philosophy. And many philosophers point out that liberation is not possible while living; liberation is only after death and they describe liberation as going to a particular place after death. Either they will say Śiva lōka prāpthi; Viṣṇu lōka prāpthi; or some prapthiḥ; this is how liberation is understood by many people; but in advaitam, we emphasise it is not so; liberation is possible here and now. And in support of this view, we take this particular verse wherein Krishna clearly says one gets freedom here, now itself, here and now liberation is possible for whom by the people of abēda dṛṣṭi; sama dṛṣṭi; taiḥ; means sama daṛsibhi; jnanibi; by the jnani, sargaḥ jitaḥ; sargaḥ means punarapi jananam punarapi maranam cycle, otherwise called samsara; jitaḥ; means conquered; so samsara is conquered; samsara is overcome; samsara is mastered by the jnanis here and now; that means samsara does not affect them.

।। हिंदी समीक्षा ।।

किसी ने कहा है, जीते जी न तो स्वर्ग जा सकते है और न ही नरक और मरने के बाद कोई बताने को आता नही, तो क्या स्वर्ग और नर्क की धारणाएं गलत है। गीता का यह श्लोक महत्वपूर्ण श्लोक है जो अध्यात्म ज्ञान की पराकाष्ठा **जीवन्मुक्ता अवस्था** का वर्णन जीते जी ब्रह्म स्वरुप हो जाने के बारे में बताती है।

शास्त्रो के अनुसार कुछ न कुछ पुण्य कर्म करने वाले देवयान या उस से कम पुण्य करने वाले पितृयान से चन्द्र लोक होते हुए विभिन्न लोक स्वर्ग आदि में अपने पुण्य फल भोग कर पुनः मृत्यु लोक में जन्म लेते है और पापाचार में लिप्त लोग तीसरे मार्ग अर्थात तिर्यक योनि यानि सीधे पशु पक्षी योनि में जन्म लेते है। जब कर्मफल का बंधन समाप्त हो जाता है तो ब्रह्म लोक होते हुए मोक्ष या ब्रह्म पद मिलता है, इसे क्रम मुक्ति या विदेह मुक्ति भी कहते हैं। किंतु जिस का मन–बुद्धि ब्रह्म से एकाकार हो गया और वह समभाव में ब्रह्मविद हो गया हो, उसे किसी भी मार्ग के आवश्यकता ही नही रहती, वह ब्रह्मसन्ध सीधे ही ब्रह्म स्वरुप हो जाता है।

देह के अंदर प्राण, प्राण के अंदर मन, मन के अंदर बुद्धि और बुद्धि के अंदर आनंद यही परंपरा गुहा कहलाती है। देह अन्नमय कोष से, प्राण का (प्राणमय कोष) अंदर होता है और प्राण से मन अर्थात मनोमय कोष अंदर होता है, मन से भी अंदर कर्ता जिसे विज्ञानमय कोष कहते है, वह अंदर होता है। उस विज्ञानमय कोष से भी अंदर भोक्ता अर्थात आनंदमय कोष होता है। इस प्रकार देह से भोक्ता तक अर्थात अन्नमय कोष से आनंदमय कोष तक परंपरा अर्थात गुहा कहलाती है। इस सब के पीछे ब्रह्म अर्थात जीव छिपा रहता है। तत्वज्ञानी पुरुष इस गुहा को विभेद कर उस ब्रह्म का स्वरूप होता है इसलिए वह सभी में वही स्वरूप अर्थात समभाव को ही देखता है। क्योंकि ब्रह्मसंध जीव साक्षी और अकर्ता है इसलिए इसे निर्दोष कहा गया है।

मनुष्य जीते जी वर्तमान में ही यहीं संसार को जीत सकता है अर्थात् संसार से मुक्त हो सकता है। शरीर इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदि सब पर हैं और जो इनके अधीन रहता है उसे पराधीन कहते हैं। इन शरीरादि वस्तुओं में महत्त्व. बुद्धि होना तथा इन की आवश्यकता का अनुभव करना अर्थात् इन की

कामना करना ही इनके अधीन होना है। पराधीन पुरुष ही वास्तव में पराजित (हारा हुआ) है। जब तक पराधीनता नहीं छूटती तब तक वह पराजित ही रहता है। जिस के मन में सांसारिक वस्तुओं की कामना है वह मनुष्य अगर दूसरे प्राणी राज्य आदि पर विजय प्राप्त कर ले तो भी वह वास्तव में पराजित ही है। कारण कि वह उन पदार्थों में महत्त्वबुद्धि रखता है और अपने जीवन को उनके अधीन मानता है।

कर्म इंद्रियां से जीव कर्म करता है और ज्ञान इंद्रियों से कर्म का कर्ता और भोक्ता बनता है। इस का अनुभव मन और बुद्धि द्वारा किया जाता है जो शुद्ध – बुद्ध आत्मा को भ्रमित कर के कर्ता और भोक्ता बना देती है। कर्म और ज्ञान इंद्रियां, मन और बुद्धि, ये सब प्रकृति के अंग है तो ब्रह्म स्वरूप आत्मा जिस के पास कोई इंद्री, मन और बुद्धि नही, वह कभी भी कर्ता और भोक्ता नही हो सकती। प्रकृति के समस्त क्रियाओं का संचालन कर के भी ब्रह्म स्वयं में अभोक्ता और अकर्ता ही है। यह समझ पाना ज्ञानी या तत्वविद द्वारा ही संभव है। इसलिए जैसे ही जीव को यह ज्ञान हो जाता है कि वह अकर्ता और अभोक्ता है, वह जीवोमुक्त हो जाता है। उसे शरीर त्यागने की भी आवश्यकता नहीं। वह जीवोमुक्त हो कर शेष जीवन व्यतीत करता है।

शरीर से विजय तो पशु भी प्राप्त कर लेता है पर वास्तविक विजय हृदय से वस्तु की अधीनता दूर होने पर ही प्राप्त होती है। वास्तव में अपने को पराजित किये बिना कोई दूसरे को पराजित कर ही नहीं सकता कामना उत्पन्न होते ही मनुष्य पराधीन हो जाता है। यह पराधीनता कामना की पूर्ति न होनेपर अथवा पूर्ति होनेपर दोनों ही अवस्थाओं में ज्यों की त्यों रहती है।

जीव की दो अवस्था है, यदि उस का सम्बंध प्रकृति से है तो वह मन, बुद्धि, इन्द्रियों एवम शरीर से प्रकृति से जुड़ कर कर्तृत्त्व एवम भोक्तत्व भाव मे रहता है। उस का यह अभान कि मैं हूँ, उसे परब्रह्म से अलग रखता है, क्योंकि तत्वदर्शन की चरम सीमा में योगी जो भी तप या साधना करता है, उस साधक एवम साध्य दो भाग होते है। किन्तु जब साधक और साध्य मिल कर एक हो जाते है, जो रहता है वह परब्रह्म ही है, अतः जीव जीते जी ब्रह्म स्वरूप हो कर ब्रह्मसन्ध हो जाता है।

सत्व, रज और तम यह तीनों प्राकृतिक गुण है अतः इन मे कही न कही दोष विषम भाव, राग, द्वेष, मोह एवम अहम का रहता ही है। **ब्रह्म नाम से कहा जाने वाला सच्चिदानंदघन परमात्मा इन तीनो गुणों से सर्वथा अतीत है। इसलिये निर्दोष और सम है।** अतः जिस पुरुष का मन समत्व में स्थित हो गया उस ने संसार जीत लिया क्योंकि अब संसार रहा है कहाँ है?. ऐसे पुरुष को हम निर्दोष एवम सम मानते हुए **ब्रह्मसंस्थ** कहते है।

जहाँ द्वेत है वह जीव और ब्रह्म है किंतु जहां अद्वेत है, वहाँ दूसरा कोई नही होता। समदृष्टि तत्वपुरुष जब हर जीव में आत्म दर्शन करता है तो वो उस के प्राकृतिक गुण दोष से पृथक उस अकर्ता, अजन्मा आत्मा को देखता है। ऐसे ब्रह्मसंस्थ पुरुष के संपर्क में आने से अन्य जीव भी चेतन्य मय हो जाते है। अंगुलिमार या बाल्मीकि का हृदय परिवर्तन या चेतन्य महाप्रभु के साथ हर प्राणी, जीव जंतु, बृक्ष, पौधे तक हरि भजन में लीन हो जाते थे। जो व्यक्ति यह समझ ले कि सर्वत्र और सदा सम भाव से रहना वाला जो 'एकमेवद्वितीयम' ब्रह्म है, वो वह मै ही हूँ। अतः जो विषयो का संग बिना त्यागे हुए और इंद्रियाओ का दमन किये बिना कामनारहित हो कर निःसंगता का भोग करता हुआ, सामान्य से दिखने वाला व्यक्ति अंदर से कितना विशाल, शांत एवम गहरा है यह तो उस के संपर्क में आने वाला व्यक्ति ही बता सकता है। ब्रह्मसन्ध होने से ले कर मृत्यु पर्यंत जो समभाव होता है, उसे का

पुनर्जन्म नही होता। मृत्यु के समय की भावना या कामना का पुर्नजन्म से अधिक सम्बन्ध है, यह हम पहले भी पढ़ चुके है।

वेद या उन के मीमांसकों में ब्रह्मसन्ध की उच्चतम अवस्था को सन्यास का स्वरूप प्रदान किया है, किन्तु गीता कर्मयोग को स्थापित करती है, इसलिये कहा गया है, परब्रह्म जो भी कार्य करता है, उस का वह अकर्ता ही होता है। उस के समस्त कर्म दिव्य कर्म होते है और सृष्टि रचना को चलायमान रखने के लिये वह दिव्य जन्म एवम कर्म करता है। ब्रह्मसन्ध भी ब्रह्म ही है, इसलिये इस स्थिति में वह जो भी कर्म करता है, वह दिव्य कर्म होते है। गुरुनानक देव से ले कर सिखगुरु के कर्म, शंकराचार्य, कपिल मुनि, अगस्त मुनि आदि द्वारा दिव्य कर्म कभी समाप्त नही हुए।

स्वर्ग–नरक या पुनः जन्म वही बता सकता है, तो तत्वदर्शी है। जहाँ जीव और ब्रह्म के अतिरिक्त कोई नही है। किंतु प्रकृति के गुणों में सात्विक गुण युक्त भी जीव प्रकृति के ही अधीन होता है, अतः स्थिति गुणातीत अवस्था है। जिस ने यह अवस्था प्राप्त की है उसे किसी को यह सिद्ध करने की आवश्यकता ही कहाँ है।

गीता में ब्रह्मसन्ध की चरम अवस्था मे तत्वदर्शी के अन्य गुणों के बारे में आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.19।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.20॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

"na prahṛṣyet priyaṁ prāpya,
nodvijet prāpya cāpriyam..।
sthira-buddhir asammūḍho,
brahma-vid brahmaṇi sthitaḥ"..।।

भावार्थ :

तत्वज्ञानी मनुष्य न तो कभी किसी भी प्रिय वस्तु को पाकर हर्षित है और न ही अप्रिय वस्तु को पाकर विचलित होता है, ऐसा स्थिर बुद्धि, मोह–रहित, ब्रह्म को जानने वाला सदा परमात्मा में ही स्थित रहता है। (२०)

Meaning:

Having obtained a desirable situation, he does not get elated; nor does he get perturbed if it is undesirable. The person of steady intellect is never deluded; the knower of the eternal essence is established in the eternal essence.

Explanation:

In this shloka, Shri Krishna emphasizes the realized seeker's outlook towards situations in the material world. Like any other person, the realized seeker encounters pleasant and unpleasant situations. He cannot avoid them. But the difference is that these situations do not destabilize the realized seeker. In other words, they do not cause elation or depression.

In this section of verse—neither rejoicing in pleasure, nor lamenting the unpleasant—is the highest ideal of the Vipassanā tradition of meditation in Buddhism also.

Usually, when something undesirable happens to someone that we do not know, it does not affect us. But if it happens to us - say we fall sick - it affects us deeply. But the wise person has transcended the ego. He recognizes that every situation is part of nature. In nature, elements are interacting with the elements in multiple configurations. Once he has this vision, happenings of the world do not impact the realized seeker.

It is important to note that situations, both good and bad, have their place in our lives. Unpleasant experiences are useful from relative world perspective because they usually have a lesson embedded within them. With each unpleasant situation the emotion of sadness will arise. But in a realized seeker there will be a space between the emotion and the self. For example, if we are on a boat, the ups and downs of the sea will impact us. But if we are standing on a rock on the shore, the ups and downs of sea do not affect us.

Why do realized seekers remain unperturbed? Their understanding of the eternal essence has become stable and firm. They have become "sthitha prajnya". They are free from the delusion of doership and enjoyership. Initially, when this knowledge is first gained, it stays on the surface. We experience the eternal essence sporadically, for a brief instance, then immediately go back into identification with the body/mind/intellect.

Divine knowledge brings the understanding that our self-interest lies in giving pleasure to God. This leads to surrender to the will of God, and when the self-will gets merged in the divine will, one develops the equanimity to serenely accept both pleasure and pain as His grace. This is the symptom of a person situated in transcendence.

Our lives are governed mainly by three factors; dēśa, kāla prārabdha i.e. place, time and destiny. Our life is governed by three forces; one is the place influences the life; the surrounding, the environment, the people, etc. That is dēśaḥ, because whether I like or not; I have to face the onslaught of the world; and the second thing I cannot escape is kālaḥ; whether I like or not, the time is flowing; and as even the time is flowing, the body is ageing; Just time has got its onslaught and the third factor which varies from individual to individual is prārabdha; even though dēśa and kāla are the same; how come different people have different experiences; you can give only one reason; what is that prārabdha; purva janma karma.

So, Krishna says the difference in gyaani and agyaani will be in the response to the situation; jñānam does not change the situation; jñānam gives the inner strength to have a balanced response towards both ups and downs; and this samatvam is the benefit of ātma jñānam.

A jñāni is not carried away by those experiences, because he knows that those experiences are caused by dēśa kālaḥ prārabdha and therefore they will arrive and they will also go away; and therefore, it is not that he rejects them; he appreciates a favourable situation; but he is not hooked to or addicted to a favourable situation. And what is the difference between appreciation and not getting addiction; when I get addicted to that; I am not prepared to lose that experience. And when that experience is lost; I go through a tremendous vacuum; jñāni is one who appreciates a favourable situation and when that situation goes away, it does not create a vacuum in him.

The best example of Lord Rama who was sworn a day before sent to forest for 14 years. In both situations, he has not perturbed but Laxman could not control himself.

So therefore, the one who constantly maintains the identification of the eternal essence becomes one with the eternal essence. He remains a pure witness of the ups and downs of the material world.

Footnotes

1. Tulsidas has said that the ocean remains same in rain or drought, but a small lake overflow and dries up. It is a simple yet powerful example of the different between a realized seeker's vision and an ordinary person's vision.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जीवन्मुक्त अवस्था जीव द्वारा प्रकृति प्रदत्त शरीर के साथ सम्भव है, तो भगवान श्री कृष्ण ब्रह्मसन्ध जीव के कुछ लक्षण आने वाले श्लोक में बताते है, जिस से हम सामान्य से दिखने वाले व्यक्ति को पहचान सके कि वह ब्रह्मसन्ध है या नही। किन्तु यह ध्यान रहना चाहिये कि यह लक्षण आंतरिक स्वयम्भूत होते है, धारण किये हुए नही। अतः जो आडम्बर कर के अपने को घोषित करे कि उस कोई मोह– ममता नही है, वह निश्चित ही मोह–ममता में ही है क्योंकि नही शब्द उस मे मोह ममता है, होने का परिचायक है।

इन्द्रियों, मन, बुद्धि से लिप्त चेतन का आकर्षण प्रकृति के गुणों मोह, ममता, लोभ, आसक्ति, क्रोध, वासना के साथ साथ दान, धर्म, दया से भरा रहता है। जिस से जीव का बंधन वस्तु, कर्म या कर्ता भाव मे बना रहता है। जब जीव ब्रह्मसन्ध हो जाता है तो अन्य कोई भी नही रहता तो यह प्राकृतिक बंधन भी नही रहता।

प्रकृति अपनी सृष्टि यज्ञ चक्र में अपना कार्य करती रहती है। प्रकृति की किसी भी क्रिया का प्रभाव हमारे हृदय में सुख और दुख से तभी जुड़ता है जब हमारे अंदर कर्तृत्व एवम भोक्तत्व भाव हो। हमारा मोह, लोभ, ममता वासना या कामना जिस वस्तु या व्यक्ति के साथ होगी हम उस मे ही सुख दुख खोजेंगे। जैसे रेल में यात्रा करते वक्त आप उस रेल के समय पर गंतव्य स्थान पर पहुचने एवम सही चलने पर अधिक रागात्मक होते है, जब कि रोज लाखो रेल चलती रहती है और उसके मामले में हम तटस्थ रहते है। जो स्थिर है वो जिस रेल में यात्रा कर रहा है उस के प्रति भी उसी प्रकार तटस्थ है जैसे अन्य रेलों के प्रति। वह प्रकृति की किसी भी क्रिया में लिप्त नही होता।

सामाजिक जीवन मे निर्णय लेने की क्षमता तटस्थ व्यक्ति में अधिक होती है क्योंकि निर्णय लेने के समस्त तथ्यों के प्रति उस को कोई राग द्वेष नही होता। यह स्थिर बुद्धि ही व्यक्त्वि विकास का प्रमुख लक्षण है।

"मैं पूर्ण ब्रह्म हूँ" ऐसा मानना या बोलना तत्वविद के उचित नही होता क्योंकि यह भी द्वेतभाव का प्रतीक "मैं" को साथ ले कर है। अतः बुद्धि ब्रह्मवेत्ता को ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त हो चुका है वो ही ब्रह्मसंस्थ है। फिर वहां अन्य कोई भी नही। अतः इंद्रियाओ, मन बुद्धि एवम शरीर के राग द्वेष, मोह एवम ममता का कोई अस्तित्व ब्रह्मसंस्थ को नही होती। किसी की मृत्यु पर दुख उस के संग राग रखने वाले को ज्यादा होती है, दुख राग की मात्रा पर निर्भर है। बाकी के लिए यह एक समाचार भर ही होता है। इसलिये दुख या सुख का मूल राग, कामना, मोह एवम ममता ही है, ब्रह्मसंस्थ की बुद्धि स्थिर होने से उस को कुछ भी प्रिय या अप्रिय नही होता।

अतः जिस व्यक्ति में शुभ, अशुभ, लाभ हानि, प्रिय अप्रिय किसी भी प्राकृतिक क्रिया से कोई भी विकृति नही आती, जो हर परिस्थिति में स्थिर है वो ही ब्रह्मसंस्थ है, स्थितप्रज्ञ है, तत्वसम दृष्टिवाला है।

किसी भी व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करने में देश, काल और भाग्य का बहुत बड़ा योगदान होता है। स्थान के अनुकूल वातावरण, सामाजिक रीतियों का पालन आदि तथा समय और आयु के अनुसार व्यवहार तथा पूर्व जन्म के संचित कर्म जो भाग्य के रूप क्रियाशील है, प्रत्येक को भोगने होते है। इसलिए ब्रह्मसंध को भूख – प्यास भी लगती है, वह अपने कर्म – अकर्म को भी जानता और करता है तथा भाग्य अर्थात पूर्व जन्म के फलों को भी भोक्ता है। इसलिए बीमारी या कष्ट उसे भी सामान्य जन की भांति ही होते है किंतु समभाव होने से वह कभी भी विचलित नहीं होता। आस्था और विश्वास प्रकृति को नियमो के विरुद्ध कार्य करने के मजबूर नही कर सकते,

इसलिए जीव जब तक शरीर है, वह प्रकृति के नियमो से बंधा ही है। अतः यह कहना भी गलत होगा कि ब्रह्मसंध कोई चमत्कारी पुरुष होता है। जो साधु संत हो कर चमत्कार दिखाते है, वे कोई सिद्ध पुरुष न हो कर सामान्य अहम से ग्रसित मनुष्य ही होते है।

व्यवहार में श्रेष्ठ एवम उच्च स्थान पर पहुचे लोगो के लिये यह स्थितप्रज्ञ या तटस्थ होने का गुण स्वाभाविक ही है, क्योंकि कठिन परिस्थितियों में या सरल एवम आनन्द दायक परिस्थितियों में जो व्यक्ति अपने लक्ष्य को नही भूलता, वही अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। जिसे डॉक्टर या CA की पढ़ाई करना हो वो कक्षा 12 में उच्च मार्क से या फेल होने से नही घबराता। जिसे उद्योग में सफलता प्राप्त करनी हो, वो एक वर्ष के लाभ या हानि से संतुष्ट नही होता।

ब्रह्मसंध होने से कोई जड़ या उदासीन नही होता। वह प्रकृति की प्रत्येक क्रिया को पहचानता है और उसे अपने लक्ष्य के अनुसार लोकसंग्रह हेतु करता है। किंतु वह उस के कार्य या फल के प्रति आसक्त नही होता। अनेक संतो के जीवन को पढ़ने से यह ज्ञात भी होता है कि ब्रह्मसंध सामान्य सा दिखने वाला जीवन चरित्र जीता है जैसे स्वामी रामकृष्ण परमहंस के जीवन चरित्र।

भगवान राम के चरित्र में अनेक कठिनाइयां आई। एक समय जब उन का राज्य अभिषेक होने वाला था, उसी समय रातों रात बाजी पलट गई और उन्हें 14 साल का वनवास मिला। किंतु दोनो ही परिस्थितियों में भगवान राम के व्यवहार, मानसिक संतुलन और विश्वास में कोई फर्क नहीं आया। अतः समय, स्थान और प्रारब्ध जो भी परिस्थितियों को उत्पन्न करता है, ब्रह्मसंध उसे प्रकृति की क्रियाएं समझ कर समभाव से रहता है।

ब्रह्मसन्ध के हर परिस्थिति में समभाव के गुण के बाद अन्य गुण आगे पढ़ते है। यह याद रहे कि गुण एक पैकेज है, किसी एक गुण से कोई ब्रह्मसन्ध या स्थितप्रज्ञ नही हो जाता।

।। हरि ॐ तत सत।।5.20।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.21॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

"bāhya-sparśeṣv asaktātmā,
vindaty ātmani yat sukham..।
sa brahma- yoga- yuktātmā,
sukham akṣayam aśnute"..।।

भावार्थ :

तत्वज्ञानी मनुष्य बाहरी इन्द्रियों के सुख को नही भोगता है, बल्कि सदैव अपनी ही आत्मा में रमण कर के सुख का अनुभव करता है, ऐसा मनुष्य निरन्तर परब्रह्म परमात्मा में स्थित होकर असीम आनन्द को भोगता है। (२१)

Meaning:

One who is not attached to external sense- contacts finds inner bliss. Such a person, established in contemplation of the eternal essence, experiences inexhaustible joy.

Explanation:

So, Krishna talks about the transformation, the jñāni enjoys as a result of this knowledge; in fact all these slokas that is 18, 19, 20, they are all talking about the transformation caused by knowledge; first he said sarvatra sama darśanam; vidyāvinayasampannē; that sama darśanam is one transformation. And then conquering mortality or the fear of death is the second benefit; because of fear of death is the basic innate instinctive fear; so therefore, that conquering the fear of death is second transformation; then the third transformation he gave in the 20th verse is he has the right perspective in facing ups and downs of life.

Now Shri Krishna explained the vision of a realized seeker. From this shloka onwards, he starts turning us towards the topic of meditation. Turning oneself inwards, away from the sense objects of the world, is the first step towards meditation. To this end, he explains the reason for turning inward.

Our entire life is geared towards the pursuit of happiness. However, if we introspect, we realize that the happiness we get from sense objects such as tasty food or a visually appealing movie is instantaneous but fleeting. Sense objects are finite, and so it the happiness that they can provide. Moreover, if we are not careful, we get attached to whatever gives us instant happiness so that we can repeat that experience. This also leads to sorrow, which comes from constant commentary and judgement from intellect when we lose access to sense objects. Because life is meant for living, whether others are there with me or not with me.

But Shri Krishna gives us a better alternative. When we slowly move away from sense objects and turn inward to contemplate on the eternal essence, we can tap into a source of happiness that is much greater than any happiness produced by sense objects.

Moreover, this happiness is never-ending, it is inexhaustible, because it is derived out of the eternal essence which is infinite.

Since the jñāni has got an inner source of ānanda, he does not depend upon any external object. not that he hates them; he does not hate; when they are available, he got this ānanda and Krishna says all the pleasures of external objects put together are included in the ātmanānada;

।। हिंदी समीक्षा ।।

प्रस्तुत श्लोक इस संसार के सुखों को क्षणिक होने का संकेत देता है क्योंकि यह प्रकृति से जुड़े रहते है। हमारी इच्छा, मन और भावना ही हमे इस मे सुख का अनुभव कराती है। प्रकृति के नियम से जो उत्पन्न हुआ है उसे नष्ट होना ही है। अतः यह सुख दुख क्रम से चलता रहेगा। अतः ब्रह्मसंस्थ पुरुष चिरस्थायी सुख का आनन्द परमात्मा में लीन हो कर लेता है। भगवान श्री कृष्ण सांसारिक सुखों की तुलना ज्ञान कर्म युक्त सन्यास से करते है।

पूर्व में हम ने पढ़ा है कि अन्नमय कोश से ले कर आनंदमय कोश तक जो सुख जीव अहम भाव से भोक्ता है वह प्रकृति के सुख है। प्रकृति क्रियाशील है इसलिए इस में कुछ भी स्थायी नही होता।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध यह पांच प्रकार के सुख जिन्हें हम ज्ञान एवम कर्म इंद्रियाओ द्वारा प्राप्त करते है इन्हें बाह्य स्पर्श सुख कहते है। यह सुख स्थायी नही होता अतः जो अपने अपने आप को इन सुखों से विरक्त रखता है अर्थात इन की कामना या मोह नही रखता उस को बह्मस्पर्षवसत्मा कहते है।

जो व्यक्ति ब्रह्मयोगयुक्तात्मा है वो परमात्मा में लीन रह कर अक्षय सुख का आनन्द लेता है। वास्तव में जीव भ्रम से प्रकृति की क्रियाओं को अपनी क्रिया समझ के उस मे कर्तृत्त्व एवम भोक्तत्व भाव से फस जाता है, जिस से उसे प्रकृति के क्षयजनक ही सुख धन दौलत, परिवार –मित्र, पद, सम्मान आदि ही सही लगने लगते है क्योंकि यह सुख स्थायी नही होते, इसलिये दुख भी उसे उतना ही मिलता है। किंतु ब्रह्मसन्ध जानता है वह प्रकृति से भिन्न परब्रह्म का स्वरूप है, तो उस का आनन्द सद– चित्त– आनन्द का चिरस्थायी असीम आनन्द होता है। ब्रह्मसन्ध होने का अर्थ यह कदापि नही है कि उस मे प्रकृति को जीत लिया। प्रकृति देश, परिस्थिति, काल एवम प्रारब्ध के अनुसार कार्य भी करती है, वह इन से प्रभावित भी होता है, किन्तु आंतरिक शक्ति और स्थितप्रज्ञ होने से वह सांसारिक सुखों या दुखो से विचलित नही होता। स्वामी रामकृष्ण कभी भी गले के कैंसर से विचलित नही हुए, यही दशा तुकडो जी महाराज की थी, जिन्होंने अपने कैंसर से इलाज की बजाय सभी के कल्याण के कैंसर का हॉस्पिटल ही बनवाने को अधिक तय किया।

ब्रह्मसन्ध के बारे में यह गलत धारणा न हो जाये कि वह प्रकृति से विरक्त है, कर्मयोगी ब्रह्मसन्ध के निष्काम कर्म लोकसंग्रह हेतु चलते ही रहते है, क्योंकि स्वयं भगवान श्री कृष्ण ब्रह्म होते हुए भी लोकसंग्रह के कार्य मे अपने दिव्य कर्म करते ही थे और राज्य का कार्यभार भी संभालते थे। अंतर है आसक्ति और कामना या मोह का है। ब्रह्मसन्ध प्रकृति के सुखों में कोई मोह, कामना या आसक्ति नही रखता। क्योंकि उस का आनन्द ब्रह्मानन्द है जो चिरस्थायी है।

संसार में विषयो का भोग इंद्रियों से मन और बुद्धि करती है, इसलिए इस को आनंदमय कोश और विज्ञानमय कोश कहा गया है। किंतु जो इस को अनुभव करता है या भोक्ता है वही जीव अर्थात आत्मा है। जैसे कोई प्रश्न पूछे की मेरी जिव्हा है तो यह मूर्खता पूर्ण प्रश्न है क्योंकि बिना जीभ के वह प्रश्न ही नहीं पूछ सकता, वैसे ही कोई कहे की क्या आत्मा नाम की कोई वस्तु है तो वह भी गलत ही होगा क्योंकि बिना आत्मा के प्रश्न ही कौन पूछ सकता है?

जिन को इंद्रियां विषय करती है वह इइक कहते है, और इंद्रियों के विषय के बाहर रह जाता है उसे ताइक कहते है। आत्मा उस विषयों को भी नही भोगती। इसलिए जो आनंद इंद्रियों से या इंद्रियों से परे आत्मा द्वारा प्राप्त ऐसा भी नही और वैसा भी नही स्वरूप में प्राप्त किए जाते है, वे स्थायी नही होते। आत्मा का असीम आनंद उसे अपने ब्रह्मस्वरूप में स्वतः ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह उस का स्वरूप है।

व्यवहारिक जीवन मे ब्रह्मसंस्थ होना एवम इन सभी गुणों से युक्त होना असंभव सा लगता है, फिर गीता में क्यों इतना विस्तृत ब्रह्मसंस्थ के बारे में बताया जा रहा है। यदि हमे मंजिल पता है तो हम उसी मार्ग को पकड़ेंगे। देरी से सही किन्तु मंजिल की ओर तो बढ़ते रहंगे। अतः ज्ञान युक्त कर्मयोग से अंत मे क्या हासिल कर पाएंगे यह भी पता होना चाहिए। मोह, कामना, राग द्वेष एवम कर्ता भाव मे व्यक्ति की उन्नति नहीं हो सकती तो जन्म मरण के च्रक से मुक्ती पाने के लिये हम जैसे जैसे ब्रह्मसंस्थ अवस्था की ओर बढ़ते है और हमे जिस प्रकार के आनन्द से गुजरते है तब ही इस आनन्द को प्राप्त भी होते है। अर्जुन भी संशययुक्त एवम हताश है किंतु कर्म योगी भी। इसलिये वो भगवान के वचनों को सुन कर समझने की चेष्ठा कर रहा है। आज के युग मे वो अर्जुन आप ही है।

।।हरि ॐ तत सत।। 5.21।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.22॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

"ye hi saṁsparśa-jā bhogā,
duḥkha-yonaya eva te..।
ādy-antavantaḥ kaunteya,
na teṣu ramate budhaḥ"..।।

भावार्थ :

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! इन्द्रियों और इन्द्रिय विषयों के स्पर्श से उत्पन्न, कभी तृप्त न होने वाले यह भोग, प्रारम्भ में सुख देने वाले होते है, और अन्त में निश्चित रूप से दुख–योनि के कारण होते है, इसी कारण तत्वज्ञानी कभी भी इन्द्रिय सुख नही भोगता है। (२२)

Meaning:

For, the pleasures born out of sense contact are only wombs of sorrow. They have a beginning and ending, O son of Kunti. The wise person does not revel in them.

Explanation:

Previously, we saw the need for the seeker to turn inward, away from the sense pleasures of the material world. Here, Shri Krishna provides another compelling reason to turn away from sense pleasures. He says, in no uncertain terms, that pleasures born out of sense contact are not really pleasures at all. They are not just sorrow disguised as pleasure, they are "wombs" of sorrow. Which means, a single experience of sense contact sows the seed for multiple sorrows.

The senses create sensations of pleasure in contact with the sense objects. The mind, which is like the sixth sense, derives pleasure from honor, praise, circumstances, success, etc. All these pleasures of body and mind are known as bhog (material enjoyment). Such worldly pleasures cannot satisfy the soul for the following reasons:

Worldly pleasures are finite, and hence the feeling of deficiency remains inherent in them.

Worldly pleasures are temporary. Once they finish, they again leave one with the feeling of misery.

Worldly pleasures are insentient, and hence they continuously decrease.

For many of us, the period of transition between academic life and work life is when a lot of these seeds are sown. As we start earning money, we automatically seem to find outlets to spend this money. Some develop an attachment to high-end coffee. Some develop an attachment to going to clubs. Some develop a taste for vehicles and so on. If we introspect, we realize that the pleasure obtained by any of these objects is not just fleeting, but results in a chain of sorrow later. Take high-end coffee for instance. The first few times it is quite pleasurable. But later, you cannot do without it.

But then, where does the pleasure arise in the first place? The mind is restless without constant sense contact. Depending upon the strength of the vaasanaas that we have

cultivated, it experiences a vacuum and rushes out into the material world towards an object in order to fill that vacuum. At the same time, the eternal essence present within us, having identified with the mind, also rushes out into the world. When the sense contact happens, the mind temporarily ceases to move outside and comes into contact with the eternal essence. This results in joy.

So, here is where the mix-up happens. The joy was already inside us, the mind causes us to believe that it is outside us. Furthermore, this joy is short-lived because the mind will again go out into the material world. Then the cycle of sorrow (vacuum) and joy (sense contact) will repeat itself. This is called "samsaara".

Therefore, Shri Krishna urges us to become wise people and realize that sense contact is not the true source of joy. Next, Shri Krishna goes into the root cause of the mind rushing out into the world.

।। हिंदी समीक्षा ।।

सृष्टि यज्ञ चक्र में प्रकृति अपने त्रियामी गुण सत–रज–तम एवम माया द्वारा कार्य करती है। प्रकृति के सिंद्धान्त के अनुसार हर वस्तु का एक ही च्रक है जिस हम " क्रम संकुचन विकास " का भी सिंद्धान्त भी कहते है। हर वस्तु जन्म विकास और मृत्यु को प्राप्त होती। अतः प्रकृति में हम जिसे हम सुख मानते है और स्पर्श, गंध, शब्द, रूप एवम रस आदि से आनन्द लेते है वो चिरस्थायी नही है। अतः जो आज सुख है वो कल छूट जाने से दुख का कारण भी होगा।

कोई इस बात से इनकार नही कर सकता कि इन्द्रीयजनित किसी भी सुख का विलोम नही है। प्रकृति में जन्म–मृत्यु और सुख –दुख साथ जुड़े हुए है।

इसलिये भी (इन्द्रियों को विषयों से) हटा लेना चाहिये क्योंकि विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से उत्पन्न जो भोग हैं वे सब अविद्याजन्य होने से केवल दुःख के ही कारण हैं क्योंकि आध्यात्मिक आदि (तीनों प्रकार के) दुःख उन के ही निमित्त से होते हुए देखे जाते हैं।

परिणामदुःख तापदुःख और संस्कारदुःख ऐसे तीन प्रकार के दुःख सब में विद्यमान रहने के कारण तथा तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी पुरुष के लिये सब के सब भोग दुःखरूप ही हैं।

सम्पूर्ण विषयभोग आरम्भ में सुखरूप प्रतीत होने पर भी परिणाम में दुःख ही देनेवाले हैं क्योंकि भोगों के परिणाम में अपनी शक्ति का ह्रास और भोग्यपदार्थ का नाश होता है यह परिणामदुःख है।

दूसरे व्यक्तियों के पास अपने से अधिक भोग देखने से अपने इच्छानुसार पूरे भोग न मिलने से भीतर भोगों की आसक्ति होने पर भी भोग भोगने की सामर्थ्य न होने से तथा प्राप्त भोगों के बिछुड़ जाने की आशङ्का से भोगों के पास रहते हुए भी हृदय में सन्ताप रहता है यह तापदुःख है।

किसी कारणवश भोगोंका वियोग हो जानेसे मनुष्य उन भोगों को याद कर कर के दुःखी होता है यह संस्कारदुःख है।

अत्यधिक भोग में आनंद लेने एवम रमने से व्यक्ति अपने उद्देश्य से भटक जाता है। जैसे आमोद–प्रोमोद में ज्यादा रमने से विद्यार्थी अपनी पढ़ाई, व्यापारी अपने व्यापार एवम नॉकरी करने वाला अपनी सेवा सही नही कर पाते।

अतः विवेकी पुरुष इंद्रियाओ जनित सुख का आनंद लेता है किंतु उस मे रमता नही है। वो जानता है यह सुख स्थायी नही है, आज है, कल नही रहेगा। अतः उस के प्रति कर्ता या भोक्तत्व भाव नहीं रखता। उस को इन्द्रीयजनित सुख मिलने एवम छूट जाने से कोई फर्क नही पड़ता। उस के भाव, विचार, आचरण, कृतत्व भाव, एवम ज्ञान में कोई अंतर न होने से वो सतत क्रियाशील रहता है।

आज वो धनी है तो गर्व नहीं और कल उस का धन चला गया तो कोई दुख या ईर्ष्या नही। यहां इंद्रियाओ जनित सुख को भोगने एवम रमने में अंतर समझना बहुत जरूरी है।

जैसे एक लड्डू खाना सुख फिर दूसरा कम सुख और ऐसे ही खाते जाना अंत मे दुख है। अतः लड्डू खाते जाना रमना है और एक–दो लड्डू खाना आनन्द लेना है। फिर लड्डू मिले या न मिले इस पर कोई भाव उत्पन्न न होना ज्ञान है। सांसारिक विषयो का सुख न मिले तो भी दुख और अधिक मिले तो भी दुख।

सांसारिक अर्थात प्रकृति से सुख विषय में नही हो कर कामना और आसक्ति में होता है। इसलिए जो विषय किसी एक के सुख देने वाला है, वही दूसरे को सुख दे, यह आवश्यक नही। प्रकृति में कामनाओं के भोग स्थायी नही होते, जिस से एक बार वे कामना को तृप्त कर भी दे तो वह दूसरी बार पुनः उठ जाती है। किसी विषय के साथ उस को रखने, छूटने और प्राप्त करने दुख या भय भी जुड़ा रहता है। इसलिए आनंद वही हो सकता है जो स्थायी, सभी के आनंदमय, भय या किसी कामना से रहित हो। मन और बुद्धि के पीछे जो ब्रह्म स्वरूप आत्मा है, उसे सांसारिक सुखों में कोई रुचि नहीं होती, वह मन और बुद्धि से उसे जीव को भोगता हुआ देखता है। किंतु उस को तलाश मुक्ति की होती है। यही कारण है सांसारिक सुख कितना भी मिले, उस का अभाव कभी समाप्त नहीं होता, जब की ब्रह्मसंध जब अपने ब्रह्मस्वरूप के आनंद को प्राप्त कर लेता है तो वह उस असीम आनंद में विचरण करता है।

पूर्व श्लोक में ब्रह्मसन्ध आत्मिक आनन्द में रहने वाला एवम बाह्य सुख में नही रमण करने वाला बताने के बाद यह श्लोक यही समझाने ले कहा गया कि आत्मिक सुख चिर आनन्दमय है जबकि प्राकृतिक एवम इन्द्रीयजनित सुख क्षणिक है, इस के आते–जाते रहने से स्थायित्व नही रहता एवम भोक्तत्व क्षमता भी सीमित एवम क्षय की होने से ब्रह्मसन्ध इन्द्रियों के सुख की ओर आकर्षित नही होता।

संयोगजन्य सुख भोगनेवाला दुःखों से नहीं बच सकता तो फिर सुख कौन होता है इसका उत्तर आगे के श्लोक में पढ़ते है।

।।हरि ॐ तत सत।। 5.22।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.23॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

'śaknotīhaiva yaḥ soḍhuṁ,
prāk śarīra-vimokṣaṇāt..।
kāma-krodhodbhavaṁ vegaṁ,
sa yuktaḥ sa sukhī naraḥ"..।।

भावार्थ :

जो मनुष्य शरीर का अन्त होने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है, वही मनुष्य योगी है और वही इस संसार में सुखी रह सकता है। (२३)

Meaning:

He who, even before this body departs, is capable of withstanding the impulse born out of desire and anger; that person is a yogi, that person is blissful.

Explanation:

In this shloka, Shri Krishna points out exactly why does the mind rush out into the material world. He says that in a person who working towards purifying his mind, there still exists two major obstacles to realization: desire and anger. Both of these generate impulses that cause the mind to go out into the material world. Even though the seeker cannot get rid of desire and anger, but can check the impulses caused by them, that person will attain happiness from within than from without.

One meaning of the word kām is lust, but in this verse kām is used for all kinds of desires of the body and mind for material pleasures. When the mind does not attain the object of its desire, it modifies its state to exhibit anger. The urges of desire and anger are very powerful, like the strong current of a river. Even animals are subject to these urges, but unlike humans they are not bestowed with the discrimination to restrain them. However, the human intellect has been bestowed with the power of discrimination. The word sodhum means “to withstand.” This verse instructs us to withstand the urges of desire and anger. Sometimes one restrains the urges of the mind out of embarrassment.

Let's examine what exactly is desire and anger in the framework of the Gita. Whenever one encounters sense pleasures, or recalls a memory of a sense pleasure, the need to re-experience that sense pleasure is called desire. Conversely, whenever one encounters a sorrowful circumstance, or recalls a sorrowful memory, the repulsion generated is called anger. Both these emotions generate impulses to chase after, or run away from an object, person or circumstance. For the mind to realize the eternal essence, it needs to be even-keel. But these impulses take the mind outwards and destabilize it.

Now, there is a possibility of a Catch-22 situation here. There will be an impulse within us to seek joy. Unless we redirect it inward, it will always rush outward. But if we redirect it inward and it does not find joy, it will again go outward. Therefore, turning this impulse inward has to be done intelligently. If all we do is cut ourselves off from the objects that give us pleasure, it will not work. Instead, we must work diligently towards purification of our mind and performance of svaadhyaava, whether it is reading of scriptures, or pooja and so on. As our mind finds exponentially more joy in svaadhyaaya, it will automatically turn inwards and drop its fascination with external objects.

The Shreemad Bhagavatam states:

“In the human form, one should not undertake great hardships to obtain sensual pleasures, which are available even to creatures that eat excreta (hogs). Instead, one should practice austerities to purify one’s heart, and enjoy the unlimited bliss of God.” This opportunity to practice discrimination is available only while the human body exists, and one who is able to check the forces of desire and anger while living, becomes a yogi. Such a person alone tastes the divine bliss within and becomes happy.

The next two shlokas describe the state of the person who finds inner bliss.

।। हिंदी समीक्षा ।।

इस संसार मे रहनेवाला प्रत्येक जीव का जीवन चक्र जन्म, शिक्षा, व्यवसाय, गृहस्थी, सांसारिक सुविधाओ को बटोरने, मान सम्मान आदि में ही व्यतीत होता है। यदि जीव इस संसार की वस्तुओं में रम जाता है तो उस की कामनाओं का कोई अंत नहीं, वह हमेशा और और की रट में लगा रहता है। कामनाये पूर्ण हो तो भी संतुष्टि नही एवम न हो तो दुख एवम क्रोध जन्म लेता है। अतः यह जीव मुख्यतयः इंद्रियाओ, मन, बुद्धि एवम चेतन में उपस्थित अहम एवम कामना में ही जीवन व्यतीत करता है।

गीता में ऐसे मनुष्य के सरल से उपाय यही बताया गया है कि उस को अपने जीवन मे कामना एवम उस की पूर्ति न होने पर क्रोध पर जीवन सब से पहले नियंत्रण करना चाहिए। जैसे कि पिछले श्लोक में विषयो में रमना बताया गया है, उसी को आगे बढ़ाते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते है कि सुखी एवम शांत पुरुष वो ही है जिस ने जीते जी अपनी कामनाओं एवम क्रोध को नियंत्रित कर लिया।

काम एवम क्रोध यह दो विषय ही जीवन मे ऐसे है जिस से जीव अपना नियंत्रण खो कर इन के वेग में कुछ भी अनुचित, उचित कर सकता है। इन का वेग बुद्धि को हर लेता है और मनुष्य पशु की भांति व्यवहार करने लगता है। इसलिये शरीर रहते, मरने से पहले ही जो काम– क्रोध के वेग को मिटा देने में सक्षम हो गया , वही पुरुष इस लोक मे योगी है, सुखी है और सिद्ध है। मृत्यु के देवादि योनि विलासिता या तिर्यगादि में पशु–पक्षी का जन्म में काम–क्रोध के वेग को नही रोक सकते तो उपयुक्त समय मनुष्य जीवन ही है।

पूर्व में भगवान श्रीकृष्ण ने राग – द्वेष दो अवगुणों पर कर्मयोगी को विजय पाने अर्थात उन पर नियंत्रण रखने को कहा था। राग का अर्थ कामना ही है। कामनाओं की पूर्ति कभी भी प्रकृति के विषयो से नही हो सकती क्योंकि विषय स्थायी नही होते। कामनाओं में विषय कुछ ही समय के आनंद की पूर्ति करते है जिस से उन की अधिकता भी दुखदायी है। और यदि कामना की पूर्ति न हो पाए तो भी कष्ट होता है। यही कष्ट द्वेष या क्रोध के स्वरूप में सामने आता है। क्रोध और कामना विवेक को हर लेते है और फिर मनुष्य क्रोध में या कामना में आसुरी वृति में कर्म करने लगता है। अतः काम और क्रोध अथवा राग और द्वेष में रहने से मनुष्य जीवन प्रकृति के बंधन में तमो गुणकारी हो जाता है।

इस के वेग को समझने से पहले हम एक उदाहरण लेते है कि एयरपोर्ट पर आप अकेले है और आप के बाजू में कोई आधुनिक सुन्दर सी लड़की आ कर बैठ जाती है। आप की निगाहे बरबस उस की ओर जाती है और मन आप को उस के कंधे पर हाथ रखने या बात करने की उसकाता है। आप समाज में अपने यश और कीर्ति और लड़की को छेड़ने के आरोप से घबरा कर जो मन चाहता है, वह नही कर पाते। इसे हम काम और क्रोध के वेग को रोकना नहीं कह सकते। जो कार्य भय, मोह, लोभ या ममता के कारण नहीं किया जा सके वह काम और क्रोध के वेग को रोकने के लिए नियंत्रण नहीं है। काम क्रोध के वेग को रोकने का अर्थ है उस के उत्पन्न होने साथ ही उसे समाप्त कर देना। जब आप के आस पास जो कुछ भी हो, उस पर अपने को केंद्रित करने की बजाय, उस का संज्ञान लेते हुए आप अपने कर्तव्य कर्म को करते है तो वह ही काम क्रोध के वेग को नियंत्रित करना है। युद्ध के पूर्व में सामने खड़े सगे संबंधी और परिवार जनों को देख कर अर्जुन अपने काम को नही रोक पाए और मोह, भय और अहम में ग्रसित हो गए।

वीणा को बजाने के लिये उस के तार एवम वीणा को व्यवस्थित करना पड़ता है। जीवन को मोक्ष के मार्ग में ले जाने के लिए भी काम एवम क्रोध रूपी तारो को कसना पड़ता है।

मृत्यु का कुछ पता नहीं कि कब आ जाय अतः सब से पहले काम और क्रोध के वेग को सहन कर लेना चाहिये। काम क्रोध के वशीभूत नहीं होना है यह सावधानी जीवनभर रखनी है। यह कार्य मनुष्य स्वयं ही कर सकता है कोई दूसरा नहीं। इस कार्य को करने का अवसर मनुष्य शरीर में ही है दूसरे शरीरों में नहीं। इसलिये शरीर छूटने से पहले पहले और शरीर छूटने तक यह कार्य जरूर कर लेना चाहिये।

काम अर्थात कामना जिस से क्षोभ, ईर्ष्या, लोभ, मोह, भय, उद्वेग, कृपणता, वासना एवम आकर्षण आदि आदि दुर्गुण उत्पन्न हो जाते है एवम क्रोध जब मन के या कामना के अनुसार न हो तो अपनी कमजोरी के रूप में

उभरता है और इस से विवेक, शालीनता, शांति एवम एकाग्रता नष्ट हो जाती है। यह प्रकृति के गुण कभी भी, कंही भी और किसी प्रकार भी उभर जाते है, इन के वेग में व्यक्ति भावना में बह कर उचित और अनुचित का विवेक खो देता है। क्योंकि यह जीवंत पर्यंत कभी भी न मिटने वाला प्रकृति स्वभाव है, इसलिये योगी एवम जीवनोमुक्त ब्रह्मसन्ध को मृत्यु पर्यंत इस को नियंत्रित करना है। यहाँ नियंत्रित करने को कहा है क्योंकि जीवन रहते काम और क्रोध नही हो संभव नही। इसलिये जब भी इस का वेग उभरे, तुरंत भगवान का ध्यान करना, जप करना या भजन, कीर्तन या अध्ययन में लग जाना चाहिये, जिस से इस का वेग समाप्त हो जाये। बाढ़ में जो तृण झुक कर पानी के वेग को निकाल देता है, वही अपनी जगह पर स्थिर रहता है, विरोध करनेवाले उखड़ जाते है।

भगवान श्री कृष्ण ने शिशुपाल के 100 अपराध को क्षमा प्रदान की थी। इसलिए उस के 100 अपराधो को धैर्य पूर्वक क्षमा करते गए और जैसे ही वह अपनी सीमा पार कर गया, उस को उन्होंने सजा दे दी। यह धैर्य ही स्पष्ट करता है कि योगीराज भगवान कृष्ण का क्रोध के वेग पर पूर्ण नियंत्रण था।

किन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्म में स्थित होता है इसे हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.23।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.24॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥

"yo 'ntaḥ-sukho 'ntar-ārāmas,
tathāntar-jyotir eva yaḥ..।
sa yogī brahma-nirvāṇaṁ,
brahma-bhūto 'dhigacchatiṁ"..।।

भावार्थ :

जो मनुष्य अपनी आत्मा में ही सुख चाहने वाला होता है, और अपने मन को अपनी ही आत्मा में स्थिर रखने वाला होता है जो आत्मा में ही ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है, वही मनुष्य योगी है और वही ब्रह्म के साथ एक होकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होता है। (२४)

Meaning:

One who finds bliss in the self, who revels in his self, whose knowledge is the self; he is a yogi and attains liberation through identification with the eternal essence.

Explanation:

Shri Krishna now starts describing how one who is established in the eternal essence eventually attains the eternal essence, in other words, is liberated. The word yogi here refers to a realized seeker. The entire personality of such a seeker is completely turned inward toward the eternal essence. This state is described by three words: antahasukhaha, antaraaraamaha and antarjyotihi.

The person who finds bliss within is called antahasukhaha. He does not expect anything from the outside world. The idea that something other than himself will make him happy, that idea has completely gone. To recap a point from the earlier shloka, he experiences bliss by seeking positivity within him, it is not negating what is outside. It is like the sun reflected in water. The reflection will never match the brightness of the sun itself. Similarly, the joy obtained through the senses is "reflected happiness". But a yogi who has shifted attention to his inner self gets the real deal.

Typically, our mind needs to constantly come into contact with an object, person or situation. This causes agitation in our minds. However, objects, people and situations keep changing. The economy changes, our friends change, our health changes and so on. But the realized seeker is antararaamaha. He revels in himself. Another way to look at this word is "antara-aarama", which means that he rests in himself. He has eliminated all agitations and is completely at ease with himself. There is nothing that compels him to do anything, he just "is".

Furthermore, the realized seeker stops looking towards more and more sources of knowledge. He is antarjyotihi. He knows that the eternal essence alone is the ultimate knowledge, the ultimate source of light. In most traditional temples, the only source of light is inside the central room where the deity is located. Symbolically, it depicts the internal light of the self.

And what is his status; Brahmabhūtaḥ, he has become one with Brahman and he has become "one with Brahman"; not that he has become one; but he has discovered the fact that I am really none other than Brahman. Brahman means what? it is a technical word for fullness. I am full and complete. I do not need anything to be happy. I do not need anything to be secure, so that is called brahmatvam and how long he will enjoy

this, as long as he is alive, he will enjoy this. When the prārabdhaḥ, karma is over, the body will fall.

And what will happen to him, nothing will happen to him, because he has discovered I am not the body. I am not the mind, therefore, previously he was embodied consciousness, now he is un-embodied consciousness, which is called vidēha mukthiḥ; Krishna calls it brahmanirvāṇam. So Brahma nirvāṇam; unembodied consciousness; oneness with Brahman. Otherwise called vidēha mukti; thus he is free while living, he is free after death also.

In this manner, one who is happy in his own self, revels in his own self and finds knowledge in one's own self, such a person is a true enlightened seeker. By such deep identification with the eternal essence, he becomes the eternal essence. In other words, he attains the ultimate liberation or "nirvaana". Liberation is the destruction of all limitations and all notions of finitude. It is the realization that what is in oneself is the same as what is in everything else.

Saint Yamunacharya states:

“Ever since I have begun meditating upon the lotus-like feet of Lord Krishna, I have been experiencing ever-increasing bliss. If by chance the thought of sex pleasure comes to my mind, I spit at the thought and curl my lips in distaste.”

।। हिंदी समीक्षा ।।

सामान्यत मनुष्य तीन प्रकार के सुख जानता है शारीरिक उपभोगों का सुख तथा भावनाओं एवं विचारों का आनन्द। इन की उपयोगिता मात्र शरीर के पालन के लिये होती है, जैसे भोजन, किन्तु यह अधिक या कम दोनों ही दुख दायी है। पहले के श्लोकों से यह बात स्पष्ट होती है कि तत्त्ववित् पुरुष का आनन्द तो इन से भिन्न स्वरूप में ही होता है।

अन्नमय कोश से ले आनंदमय कोश तक जो भी है वह प्रकृति है। इस को आत्मसात करने के मनन की आवश्यकता है। मनन का अर्थ हम प्रकृति की प्रत्येक क्रिया को पहचाने और जो इस को पहचानता है और करते हुए देखता है, महसूस करता है, वहां तक पहुंचे। इस में संशय नहीं होना चाहिए। क्योंकि जो किसी का नाम, घर, परिवार, संपत्ति या शरीर है, वह बदलता रहता है, परंतु जिसे हम "मैं" कह कर संबोधित करते है, वह नही बदलता। इसी "मैं" को जो मनन से संशय त्याग कर पहचान लेता है, उसे ही अपनी आत्मा का ज्ञान हो जाता है।

संशय रख कर गीता पढ़ने से ले कर आत्मचिंतन तक सभी व्यर्थ है। क्योंकि "मैं" को खोजने से पहले उस के होने का विश्वास ही हमे एकनिष्ठ, श्रद्धावान बना कर चिंतन, मनन और निदिध्यासन की ओर ले जाता है। जिन का विश्वास सांसारिक और प्रकृति का है, वे "मैं" को जानते हुए भी नही प्राप्त होते।

जिन्हे विपर्य हो कि मैं ब्राह्मण हूं, सन्यासी हूं, आचार्य हूं, वकील हूं, CA हूं, उस ने देह की परिस्थिति को ले कर यह पर्याय या नाम अपने आप में आरोपित कर लिया। विपर्यय का अर्थ है जो हम नही है, उसे हम अपने ऊपर आरोपित कर लेते है। जीव तो आत्मा का स्वरूप है, वह अपने को प्रकृति के स्वरूप में देखता है। इसलिए हम अपने को शिवोऽहम की बजाय अपने नाम, व्यवसाय, पारिवारिक रिश्ते, पद और पढ़ाई के नाम से जानने लगते है। इसी कारण हमारा सुख दुख इसी प्रकृति के अन्नमय कोश से ले कर आनंदमय कोश अर्थात मन और बुद्धि से भोगे कर्म फलों तक रह जाता है।

सुख बाह्य एवम आन्तरिक होता है, बाह्य सुख विषय जानित है जिसे इंद्रियाओ से ग्रहण करते है, अस्थायी है। इसलिये पिछले श्लोक में काम– क्रोध के वेग को समाप्त करने की बात की गई थी।

जब मनन फिर निदिध्यासन से हमे अपने आत्म स्वरूप का बोध होता है तो हम निर्विकल्प होने लगते है। वेदांत में निर्विकल्प का अर्थ है भ्रम रहित अद्वैत भाव में रहना। जो मनुष्य ध्यान तो लगाता है, पूजा भी करता है किंतु उस के बाद तुरंत व्यापार में जोड़ तोड़ में लग जाए, और उस समय उस की कामना आसक्ति और अहम पुनः जाग्रत हो कर राग एच द्वेष करने लगे तो वह निर्विकल्प नही है। निर्विकल्प का सही अर्थ यही है कि कर्म भी करते हुए वह अपने को आत्मस्वरुप समझे और देह अर्थात प्रकृति को कार्य करते हुए देखे।

इस प्रकार उस को प्रकृति जनित भोग विलास की आवश्यकता भी नहीं रहती, वह आत्मा को साक्षी मान कर प्रकृति के क्रियाओं को देह के साथ प्रारब्ध के अनुसार होने देता है। उस का आनंद आत्मा के आनंद से जुड़ा रहता है।

ब्रह्मज्ञानी के विषय बृहदारण्क उपनिषद में लिखा है कि वह कर्म कांडी नही हो सकता। आप कितनी पूजा करते है, व्रत उपवास रखते है, तीर्थ जाते है, दान दक्षिणा देते है, इन से ब्रह्म ज्ञानी नही हो सकता। ब्रह्म ज्ञानी वही है जिस ने अपने "मैं" को प्राप्त कर लिया है, जिस ने अपनी कामना, आसक्ति, मोह और अहम को त्याग दिया है। यदि हम संसार में जितनी भी सात्विक भाव की पूजा पाठ सांसारिक सुखों के लिए करते है या इस का अभिमान करते है या समस्त वेदों के नियमानुसार कर्म करते है तो हम ब्रह्म ज्ञानी नही, विधिकिंकर कहलाएंगे। नियमो का पालन करने वाले, प्रकृति के बंधन में फल की आशा से कर्म करने वाले विधिकिंकर कहलाते है। ब्रह्म में कर्मकांडी और कर्मयोगी दोनो को समझना जरूरी है। निष्काम कर्मयोगी जो अपनी आत्मा के साक्षी भाव में है, वह प्रकृति की देह से दिव्य कर्म ही करता है। इसे और विस्तृत हो कर अगले श्लोक में पढ़ते है।

इस प्रकार जो अंतः सुखी अर्थात अन्तः करण में ही सुखी हो जाये, जो अन्तः स्थित परम आनन्दस्वरूप परमात्मा में ही सुख मानता है, जो अपने आप मे ही आराम पाने लगे, जो नित्य ही आसक्ति रहित हो कर परमात्मा में रमा रहता है और ऐसे ही जिसे अन्तः प्रकाश मिल जाय, वह योगी ब्रह्म रूप हो जाता है एवम उसे ही ब्रह्म निर्वाण अर्थात ब्रह्म में मिल जाने का मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

सांख्ययोग का ऊँचा साधक ब्रह्म में अपनी स्थिति का अनुभव करता है जो परिच्छिन्नताका द्योतक है। कारण कि साधक में मैं स्वाधीन हूँ मैं मुक्त हूँ मैं ब्रह्म में स्थित हूँ इस प्रकार परिच्छिन्नता के संस्कार रहते हैं। ब्रह्मभूत साधक को अपनेमें परिच्छिन्नता का अनुभव नहीं होता। जब तक किञ्चिन्मात्र भी परिच्छिन्नता या व्यक्तित्व शेष है तब तक वह तत्त्वनिष्ठ नहीं हुआ है। इसलिये इस अवस्थामें सन्तोष नहीं करना चाहिये। ब्रह्मनिर्वाणम्पद का अर्थ है जिसमें कभी कोई हलचल हुई नहीं है नहीं होगी नहीं और हो सकती भी नहीं ऐसा निर्वाण अर्थात् शान्त ब्रह्म। इस को हम मान सकते कि नदी में समुन्द्र के विलय होने पर मात्र समुन्द्र ही रहता है वैसे ही आत्मा से परमात्मा का विलय होने पर परमात्मा ही रहता है।

यद्यपि अन्तः सुख, अन्त आराम, अन्त ज्योति इन तीनो के साथ जीव को सांख्य योग की परम स्थिति ब्रह्मभूतः एवम ब्रह्मनिर्वाणम से विभूषित किया गया है तो भी यह कंही भी यह नही माना गया है कि कर्मयोगी की यह स्थिति नहीं है, सांख्य योग एवम कर्म योग दोनों एक ही स्थिति को प्राप्त होते है अतः कर्मयोगी भी अनासक्त भाव से कर्म करते हुए भी अंतर्मन से शान्त, सुखी एवम आनंद को प्राप्त करता है। वस्तुतः यह स्थिति धैर्य एवम विवेक के साथ कार्य करते रहने की जिस से सांसारिक विषयो से कोई भी बाधा नही उत्पन्न होती है।

वस्तुतः हम जीवनोमुक्त ब्रह्मभूत स्थिति में व्यक्ति को पढ़ रहे है, जो प्रत्यक्ष हमारे सामने है। मृत्यु के बाद इन गुणों का औचित्य कुछ रहे या न करे किन्तु शेष जीवन मे ब्रह्मभुत जीव में यह गुण होते ही है। इस मे हम स्थितप्रज्ञ, समभाव, बाह्य इन्द्रियों से कोई लगाव न होना, मन एवम इन्द्रियों के सुख में भी कोई रुचि न होना, काम–क्रोध के वेग को संयम पूर्वक संभालने की क्षमता का होना एवम अभी आत्मा में ही स्थायी आनन्द के अनुभव के साथ रहना आदि गुण पढ़े। कुछ लोग यह सब सन्यासियों के गुण कह कर ध्यान नही देते किन्तु व्यवहार में यह गुण कर्मयोगी पुरुष में ही मिलते है, जितने भी लोग उच्च पद या प्रतिष्ठा में जन मानस के आदर्श हुए है उन में इन्ही गुणों का न्यूनाधिक मात्रा में संचार देखा जाता है। जब तक शिक्षा एवम संस्कार में हम अपने अंदर एवम आने वाली पीढ़ी में इन गुणों को संचारित नही करते, तब तक परिवार, समाज, देश एवम विश्व का कल्याण नही हो सकता।

राजा जनक कहते हैं कि आश्चर्य की बात है कि शरीर के साथ संसार का त्याग करने से , थोड़ी–सी कुशलता से ही इस समय मुझे परमात्मा के दर्शन हो रहे हैं। सत्य एवं वास्तविकता का ज्ञान हो जानेपर असत्य एवं संसार अपने–आप ही छूट जाते हैं ।

।।हरि ॐ तत सत ।। 5.24।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.25॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

"labhante brahma-nirvāṇam,
ṛṣayaḥ kṣīṇa-kalmaṣāḥ..।
chinna-dvaidhā yatātmānaḥ,
sarva-bhūta-hite ratāḥ"..।।

भावार्थ :

जिनके सभी पाप और सभी प्रकार दुविधाएँ ब्रह्म का स्पर्श करके मिट गयीं हैं, जो समस्त प्राणियों के कल्याण में लगे रहते हैं वही ब्रह्म–ज्ञानी मनुष्य मन को आत्मा में स्थित करके परम–शान्ति स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं। (२५)

Meaning:

The wise seeker, whose defects have been destroyed, who has eliminated all doubts, who has complete control over his self, who is engaged in the welfare of all beings; he obtains liberation.

Explanation:

In the preceding verse, Shree Krishna explained the state of the sages who experience the pleasure of God within themselves. In this verse, He describes the state of the sages who are actively engaged in the welfare of all beings. The Ramayan states:

“The trait of compassion is the intrinsic nature of saints. Motivated by it, they use their words, mind, and body for the welfare of others.”

In this shloka, Shri Krishna further explains the nature of one who is liberated by establishing himself in the eternal essence. **Such a liberated seeker is called a "rishi". It means one who knows, one who has knowledge of the eternal essence. Typically, we think of a rishi as someone who has a beard and wears a robe. It is not so.** A rishi uses knowledge and discrimination constantly and knows the difference between the real and the unreal. Such a rishi has four attributes per this shloka: free of all defects, free from all doubts, complete self-control, and engaged in the welfare of all beings.

The rishi is "ksheena-kalmasha", which means that he has freed himself of all mental impurities. The core or the key mental impurity is ignorance which manifests in the form of affinity for worldly pleasures. It is ignorance alone from which all impurities are others based off. It is through karmayoga that we rid ourselves of all mental impurities.

Next, the rishi is "chhinna-dvaidah". He is free from all doubts regarding who is really is. Until the mind has doubts, the notion that "I am the eternal essence" will come and go,

but it will not be permanent. There will be no conviction behind it. Desires that push us out into the world are the obstruction to such a permanent conviction. "Chhinna - dvaidah" also means free of all notions of duality.

"Yataatmaanah" is another word used to describe the rishi. He has complete self-control, in other words, he has competed control over his mind and senses. He is not like most of us who are under the mind's control. The rishi know that the body, mind and senses are different than his true self which is the eternal essence. Once he realizes that they are different than him and have no relation to him, he does not come under their control.

Furthermore, the rishi is "sarva bhuta hite rathaah", which means that he is always engaged in the welfare of all. Now this does not mean necessarily that he is engaged in social service. It means that the rishi is always in a state of total non-violence. He sees no distinction between himself, one person and another person. It is like water and the fish. Regardless of what the fish does, the water lives in total harmony with the fish. One has no fear for the other.

The highest welfare activity is to help a person unite his or her consciousness with God. This is the kind of welfare work that elevated souls with purified minds engage in. Such welfare activity further attracts God's grace, which elevates them even further on the path. Finally, when they have achieved complete purification of the mind and perfected their surrender to God, they are liberated to the spiritual realm and the divine Abode.

So therefore, such a rishi is the one who is fit to attain liberation, where he dissolves himself into the eternal essence, just like a wave dissolve into the ocean.

।। हिंदी समीक्षा ।।

यहां हम ब्रह्मसंस्थ पुरुष की अन्य विशेषताओ को आगे पढ़ते है। इस मे तीन शब्द क्षीणकल्मषाः, छिन्नद्वैधाः और यतात्मानः बताए गए है।

इस स्थिति तक पहुंचने तक स्वयं आत्मा को पहचानना है।आप को अपने अंदर स्वयं को अर्थात "मैं" को खोजना है, फिर शुरुवात कैसे होगी की मैं कौन हूं। आप अपने किस शरीर के अंग को आप अपना स्वरूप मानते है ? हाथ, पैर, छाती, हृदय, मुख या संपूर्ण शरीर? शरीर तो बदलता रहता है, बचपन से जवानी तक, पर "मैं" नही बदलता। क्या आप अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शुद्र के रूप में या ब्रह्मचारी, गृहस्थ या सन्यासी या कोई

व्यक्ति विशेष माता, पिता, भाई या कोई और या फिर स्त्री या पुरुष कैसा सोचते है। यह सब सोच शरीर की या शरीर से जुड़े संबंधों की है इसलिए जब परमात्मा को भी खोजेंगे तो उसे भी कोई आकार या स्वरूप देने लग जाते है। इस से आप और परमात्मा दोनो अलग अलग हो जाता है। इसलिए ब्रह्म के स्वरूप को पाने के लिए बाहर नहीं अपने अंदर ही अपने "मैं" को खोजना पड़ेगा। योगदर्शन में समाधि का अर्थ है संपूर्ण चित्तवृतियो का विकल्प रहित हो जाना, बीजरहित निरोध अर्थात निर्भ्रम अद्वैत या भ्रम रहित अद्वैत।

निर्विकल्प हो कर जब मनुष्य आत्मा पर मनन शुरू कर देता है, तो ही वह उस पर ब्रह्म स्वरूप हो सकता है। आत्मा माने खुद, खुद और खुदा या खुदी सब में अंतर है। खुदी माने अभिमान और खुदा माने परमात्मा। दोनो ही मनुष्य का आंतरिक स्वरूप नही है। उसे स्वयं को खोजना है, न की परमात्मा को, उसे इस का अभिमान भी है तो वह आत्मा का ज्ञान नही। इसी आत्मा अंतःकरण की खोज है। परमात्मा बाहर की खोज है।

अद्वैत के भाव से द्वैत का भाव भस्मीभूत हो जाता है। जैसे रस्सी जल जाने से रस्सी के आकार में जो राख का ढेर होता है, वैसा ही प्रारब्ध के कर्म फलों को भोगने के लिए देह रह जाती है और समस्त संचित कर्म नष्ट हो जाते है। इस का अर्थ यही है कि ज्ञानी का जीवन निर्विकल्प उपलब्धि के बाद बना रहा, समाप्त नहीं होता। संसार का नाश नही होता, यह संसार बना रहता है किंतु इस संसार में ज्ञानी का संसार का, अभान का और दुखरुपता का अभाव या अंत हो जाता है।

ब्रह्म स्वरूप संसार त्याग नही है, वह जीते जी ब्रह्म स्वरूप है जिस के कोई संचित कर्म नही है, वह शेष जीवन अपने प्रारब्ध को भोगने और शेष कर्म लोकसंग्रह हेतु करने लग जाता है और देह त्याग के बाद पूर्ण ब्रह्म में मिल जाता है।

सभी साधनों की सिद्धि एक मात्र ज्ञान द्वारा ही संम्भव है। इस हेतु प्रायश्चित आदि कर के हम पूर्व में किये कर्मो के फलों को कम कर सकते है। मन एवम बुद्धि में उत्पन्न विभिन्न संशय का निवारण ज्ञान से करते हुए हर समस्या को समाप्त कर सकते है। जिस से कर्मयोग में अनासक्त भाव से कार्य करते वक्त किसी भी प्रकार का संशय न रहे। इस प्रकार मन भी अपनी चंचलता आदि सभी दोषों से प्रायश्चित द्वारा मुक्त हो कर परमात्मा स्वरूप से एकाकार हो यतात्मा हो जाता है।

व्यवहारिक जीवन मे व्यक्त्वि विकास के मार्ग हजारों साल पहले गीता में लिखा गया जो आज भी सत्य है। पिछले श्लोक में सब से पहले मोह एवम क्रोध पर विजय पाने को कहा गया। क्योंकि किसी भी व्यक्ति का विवेक मोह एवम क्रोध में ही नष्ट होता है।

इस के बाद मन को भटकाने वाले आकर्षण से दूर रहने को कहा गया, यह संसार के इंद्रियाओ से जनित क्षणिक सुख होते है जिस से हमे जिस कार्य को करना है वो हम नही कर पाते। यदि हमारा मन, इंद्रियां नियंत्रित रहेंगी तो हम स्वस्थ मन एवम स्वस्थ शरीर द्वारा बिना कामना के उच्च कार्य कर सकते है।

इस के बात समान भाव से रहने को कहा गया जिस से निर्णय लेने की क्षमता में वृद्धि हो सके।

जिस स्वरूप, आकार एवम लक्षण से हम पेड़, पौधे, पशु, पक्षी या मनुष्य या स्थान का भेद करते है, वह सांसारिक ज्ञान है जो मन इन्द्रियों से ले कर बुद्धि द्वारा विभजित करता है। छोटे बालक में यह ज्ञान भेद नही होता। ऐसे ही परमात्मा के ज्ञान में भी दृष्टि भेद नही होता। परमज्ञानी सभी मे परमात्मा का स्वरूप ही देखता है। जब जीव दृष्टि भेद को त्याग कर आत्मा को देखने लगता है तो वह छिन्नद्वेधाः स्थिति में होता है। यह सन्देह एवम

संशय से परे बिना की भेद भाव की भावना या अपने–पराए से परे की अवस्था है, इस मे किसी भी प्रकार संदेह, मानसिक विकार, संशय या आसक्ति नही रहती, इसलिये इसे क्षीणकल्मषाः भी कहा गया है।

अर्जुन तो युद्ध मे वैराग्य उत्पन्न हुआ किन्तु कर्म का त्याग वैराग्य नही होता, अतः भगवान श्री कृष्ण ब्रह्मसन्ध की विशेषता के रूप में ज्ञान प्राप्त वैराग्य को बता रहे है ताकि सिर्फ कर्म त्याग के गेरुवे वस्त्र धारण करना कर्मयोगी के लिये कायरता है। निष्काम कर्मयोगी भी यही गुण को धारण कर के कर्म करता है जो ब्रह्मसन्ध सन्यास मार्ग से प्राप्त कर के करता है।

इस श्लोक में ज्ञान प्राप्ति पर जोर है यानी अपने विषय मे जब तक हमारी पकड़ न हो हम सही मार्ग नहीं या सही कार्य नहीं कर सकते। अपनी पुरानी गलतियों को मिटा कर नए सृजन शील कार्य कर सकते है। इस लिए अपने भूतकाल को भुला कर सही मार्ग ज्ञान द्वारा अपनाना चाहिए। फिर ज्ञान में संदेह की कोई गुंजाइश भी नही रखनी चाहिए। अपने समस्त संदेह का निवारण ज्ञान द्वारा करना चाहिए।

ज्ञानवान शांत स्वभाव, संदेह रहित, बिना किसी से कोई राग द्वेष रखते हुए अपने कार्य पर समस्त शक्ति लगा कर अपने कार्य को करना ही महान व्यक्तियों के गुण होते है। यही प्रवृति शनेः शनेः व्यक्ति को निर्लिप्त, निष्काम भाव की ओर ले जा जाती। संसार मे जितने भी महान व्यक्ति हुए, उन में इन सब गुणों का समावेश रहता है।

जैसे ही हम उच्चस्तरीय गुण को अपनाना शुरू कर देते है तो हमारी मानसिकता, शारीरिक क्षमता एवम कार्यप्रणाली एवम व्यवहार में परिवर्तन होने शुरूहो जाते है। यह परिवर्तन आगे चल कर हमें ज्ञान युक्त कर्मयोगी बनाते है। ब्रह्मसंस्थ स्थिति तो इन्ही गुणों के साथ साथ काम करते करते अपने आप आ जाती है।

।।हरि ॐ तत सत।। 5.25।।

।। परमपुजनीय रामसुखदास जी द्वारा प्रत्येक शब्द का विवेचन ।। विशेष 5.25।।

'यतात्मानः'--नित्य सत्यतत्त्व की प्राप्ति का दृढ़ लक्ष्य होने के कारण साधकों को शरीर– इन्द्रियाँ– मनबुद्धि वश में करने नहीं पड़ते, प्रत्युत ये स्वाभाविक ही सुगमतापूर्वक उन के वश में हो जाते हैं। वश में होने के कारण इन में राग–द्वेषादि दोषों का अभाव हो जाता है और इन के द्वारा होनेवाली प्रत्येक क्रिया दूसरों का हित करनेवाली हो जाती है।

शरीर–इन्द्रियाँ–मन–बुद्धि को अपने और अपने लिये मानते रहने से ही ये अपने वश में नहीं होते और इन में राग–द्वेष, काम–क्रोध आदि दोष विद्यमान रहते हैं। ये दोष जब तक विद्यमान रहते हैं, तब तक साधक स्वयं इन के वश में रहता है। इसलिये साधक को चाहिये कि वह शरीरादि को कभी अपना और अपने लिये न माने। ऐसा मानने से इन की आग्रहकारिता समाप्त हो जाती है और ये वश में हो जाते हैं। अतः जिन का शरीर– इन्द्रियाँ– मन– बुद्धि में अपनेपन का भाव नहीं है तथा जो इन शरीरादि को कभी अपना स्वरूप नहीं मानते, ऐसे सावधान साधकों के लिये यहाँ 'यतात्मानः' पद आया है।

'सर्वभूतहिते रताः' --सांख्ययोग की सिद्धि में व्यक्तित्व का अभिमान मुख्य बाधक है। इस व्यक्तित्व के अभिमान को मिटाकर तत्त्व में अपनी स्वाभाविक स्थिति का अनुभव करने के लिये सम्पूर्ण प्राणियों के हित का भाव होना आवश्यक है। सम्पूर्ण प्राणियों के हित में प्रीति ही उस के व्यक्तित्व को मिटाने का सुगम साधन है। जो सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्व के साथ अभिन्नता का अनुभव करना चाहते हैं, उन के लिये प्राणिमात्र के हित में प्रीति होनी आवश्यक है। जैसे अपने कहलानेवाले शरीर में आकृति, अवयव, कार्य, नाम आदि भिन्न–भिन्न होते हुए भी ऐसा भाव रहता है कि सभी अङ्गों को आराम पहुँचे, किसी भी अङ्ग को कष्ट न हो, ऐसे ही वर्ण, आश्रम ,सम्प्रदाय, साधन–पद्धति आदि भिन्न–भिन्न होते हुए भी सम्पूर्ण प्राणियोंके हित में स्वाभाविक ही रति होनी चाहिये कि सब को सुख पहुँचे, सब का हित हो, कभी किसी को किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न हो। कारण कि बाहर से भिन्नता रहने पर भी भीतर से एक परमात्मतत्त्व ही समानरूप से सब में परिपूर्ण है। अतः प्राणिमात्र के हित में प्रीति होने से व्यक्तिगत स्वार्थभाव सुगमता से नष्ट हो जाता है और परमात्मतत्त्व के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव हो जाता है।

,'छिन्नद्वैधाः'--जबतक तत्त्वप्राप्तिका एक निश्चय दृढ़ नहीं होता, तब तक अच्छे– अच्छे साधकों के अन्तःकरण में भी कुछ–न–कुछ दुविधा विद्यमान रहती है। दृढ़ निश्चय होने पर साधकों को अपनी साधना में कोई संशय, विकल्प, भ्रम आदि नहीं रहता और वे असंदिग्धरूप से तत्परतापूर्वक अपने साधन में लग जाते हैं। द्वैध का अर्थ संशय या दुविधा रहित होता है, संशय अपर्याप्त ज्ञान या अज्ञान से ही उत्पन्न होता है।

'क्षीणकल्मषाः'--प्रकृति से माना हुआ जो भी सम्बन्ध है, वह सब कल्मष ही है; क्योंकि प्रकृति से माना हुआ सम्बन्ध ही सम्पूर्ण कल्मषों अर्थात् पापों, दोषों, विकारों का हेतु है। प्रकृति तथा उस के कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से स्पष्टतया अपना अलग अनुभव करने से साधक में निर्विकारता स्वतः आ जाती है। इस जन्म और जन्मांतर में किये हुए कर्मों के संस्कार, राग द्वेषादि दोष तथा उन की वृत्तियों के पुंज, जो मनुष्य के अन्तकरण में इकठ्ठे रहते है, बंधन में हेतु होने के कारण सभी कल्मष –पाप होते है। कभी कभी बिना सोचे ही कोई विचार आ जाता है, यह पूर्व जन्म का संस्कार है।

'ऋषयः'--'ऋष्' धातु का अर्थ है––ज्ञान। उस ज्ञान (विवेक) को महत्त्व देनेवाले ऋषि कहलाते हैं।प्राचीनकाल में ऋषियों ने गृहस्थ में रहते हुए भी परमात्मतत्त्व को प्राप्त किया था। इस श्लोक में भी सांसारिक व्यवहार करते हुए विवेकपूर्वक परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये साधन करने वाले साधकों का वर्णन है। अतः अपने विवेक को महत्त्व देनेवाले ये साधक भी ऋषि ही हैं।

'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्' ब्रह्म तो सभी को सदासर्वदा प्राप्त है ही, पर परिवर्तनशील शरीर आदि से अपनी एकता मान लेने के कारण मनुष्य ब्रह्म से विमुख रहता है। जब शरीरादि उत्पत्ति– विनाशशील वस्तुओं से सम्बन्ध–विच्छेद हो जाता है, तब सम्पूर्ण विकारों और संशयों का नाश होकर सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्म का अनुभव हो जाता है। 'लभन्ते' पद का तात्पर्य है कि जैसे लहरें समुद्र में लीन हो जाती हैं, ऐसे ही सांख्ययोगी निर्वाण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। जैसे जल– तत्त्व में समुद्र और लहरें–ये दो भेद नहीं हैं, ऐसे ही निर्वाण ब्रह्म में आत्मा और परमात्मा–ये दो भेद नहीं हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। विशेष 5.25 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.26॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

"kāma-krodha-vimuktānāṁ,
yatīnāṁ yata cetasām..।
abhito brahma-nirvāṇaṁ,
vartate viditātmanām"..।।

भावार्थ :

सभी सांसारिक इच्छाओं और क्रोध से पूर्ण–रूप से मुक्त, स्वरूपसिद्ध, आत्मज्ञानी, आत्मसंयमी योगी को सभी ओर से प्राप्त परम–शान्ति स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही होता है। (२६)

Meaning:

One who is free from desire and anger, one who is has subdued the mind; for that seeker who has realized the eternal essence, ultimate liberation exists from all sides.

Explanation:

With this shloka, Shri Krishna concludes the teachings of the fifth chapter. In this shloka, he provides the last set of attributes of the person who has attained liberation by establishing himself in the eternal essence. He says that such a person is free from desire and aversion due to his control of his mind and intellect.

Karm-yog is the safer path to take for most people, as explained in verse 5.2, and that is why Shree Krishna has strongly recommended it to Arjun. However, for someone who is truly detached from the world, karm sanyās is also suitable. It is advantageous in that there is no diversion of time and energy toward worldly duties, and one can dedicate oneself fully to the practice of spirituality. There have been many accomplished sanyāsīs in history. Shree Krishna states that such true karm sanyāsīs also make rapid progress and experience peace everywhere. By eliminating the urges of desire and anger and subduing their mind, they attain perfect peace both in this life and here-after.

Like we saw in the previous shloka, ignorance of the true nature of oneself is the critical defect of the mind. It is this ignorance alone that creates desire and aversion. We do not find pleasure within ourselves, so we rush outside with desire. If the desire is not obtained, we get irritated and angry. This is the life of an ignorant person in a nutshell. It is the constant seeking of pleasure, and getting annoyed when pleasure is not obtained. So the wise person, having removed his ignorance, is free from desire and anger.

We often harbor the misconception that external circumstances are at fault for the lack of peace in our lives, and we hope for the day when the situation will become conducive to peace of mind. However, peace is not dependent upon the external situation; it is a product of purified senses, mind, and intellect. The sanyāsīs, with their mind and thoughts turned inward, find the ocean of peace within, independent of external circumstances. And then, with the internal machinery in order, they experience the same peace everywhere, and are liberated in this world itself.

So then, to conclude the chapter's teachings, Shri Krishna says that such a wise person - one who has identified with the eternal essence - obtains liberation from all sides. In other words, such a wise person is liberated while he is living and remains liberated after he dies.

The Gita prescribes a step-by-step approach to liberation, which is elaborated in various chapters throughout the text. It begins with karma yoga, where a seeker follows his svadharma to purify his mind and prepare it for instruction. Next, he receives instruction and knowledge on the eternal essence through shravana (hearing), manana (clearing doubts through self-inquiry) and nidhidhyaasana (internalization). The last step of internalization is accomplished through dhyaana yoga or meditation, which is the topic of the next chapter.

But before we begin the next chapter, Shri Krishna provides a preview of dhyaana yoga in the next and last three shlokas of this chapter.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जैसे एक चिकित्सक अस्वस्थ रोगियों का उपचार उन के मध्य रह कर करता हुआ भी उन के रोगें से अछूता रहता है या उन के दुखों से स्वयं भावावेश में नहीं आ जाता या फिर प्राणि मात्र के प्रति हृदय मे उमड़ते प्रेम के कारण वेश्या को पापमुक्त अथवा कोढ़ी को रोग मुक्त करने अंधकार को प्रकाशित कर के अज्ञानियों का पथप्रदर्शन करने का समाज सेवा का कार्य करते हुए ज्ञानी पुरुष स्वयं अपने दिव्य स्वरूप में स्थित समाज की

अशुद्धियों से लिप्त नहीं होता, वैसे ही दुखार्त कामुक हीन वैषयिक प्रवृत्तियों के लोगों के मध्य रहकर भी ज्ञानी पुरुष को उन के अवगुणों का स्पर्श तक नहीं होता।

ज्ञानी पुरुष का अन्तःकरण सर्वथा परिशुद्ध हो जाता है, इसलिये उस मे काम क्रोधादि विकार लेश मात्र भी नही रहता। ऐसे महात्मा के मन और इंद्रियाओ द्वारा जो कुछ भी क्रिया होती है, सब स्वभाविक ही दुसरो के हित के लिये ही होती है। व्यवहार काल मे आवश्यकता अनुसार उन के मन और इंद्रियाओ द्वारा यदि शास्त्रानुकूल काम या क्रोध का वर्ताव किया जाता है तो वो नाटक में स्वांग भर अभिनय के सदृश्य ही लोकसंग्रह के लिए होता है।

इसी प्रकार बुराइयों (काम एवम क्रोध) के त्याग करने वाला, किसी भी प्रकार की दुर्भावना न रखने वाला शांत चित्त पुरुष और सब के प्रति समान भाव रखने वाला जितेंद्रिय पुरुष ही यति अर्थात साधु पुरुष कहलाता है।

जीव और प्रकृति का संबंध अज्ञान का है जिस के कारण वह देह को अपना स्वरूप मान लेता है। जिस के फलस्वरूप वह सांसारिक सुखों की ओर भागता है और सुख के साथ दुख को भी भोगता है। किंतु जिस में जिस क्षण अपने "मैं" को खोज लिया, उसी क्षण उस का प्रकृति से संबंध टूट जाता है और वह पूर्ण ब्रह्म से जुड़ कर ब्रह्मस्वरूप में होता है। फिर शेष जो रहता है, वह प्रकृति प्रदत्त देह है क्योंकि ब्रह्म स्वरूप होने का अर्थ मृत्यु अर्थात देह त्याग नही है। ज्ञान की अग्नि में उस के समस्त संचित कर्म जल कर भस्म हो जाते है, शेष प्रारब्ध को वह अपनी देह से निर्लिप्त और निष्काम भाव से भोगता है। उस का असीम आनंद परब्रह्म से जुड़ा होता है, इसलिए वह जीते जी ही ब्रह्मस्वरूप हो, शेषजीवन व्यतीत करता है और उस का पुनः जन्म नही होने से, वह शरीर के त्याग के बाद ब्रह्म में लीन हो कर मुक्ति को प्राप्त करता है। भगवान श्री कृष्ण ऐसे जीव और परमात्मा में कोई भी अंतर से नही देखते।

यहां इस अध्याय के अंत में भगवान श्री कृष्ण कर्मयोग से कर्म सन्यास की ओर बढ़ रहे है। कर्म सन्यास में जो उपलब्धि सन्यासी कर्म को त्याग कर अपने को ब्रह्म से जोड़ कर पाता है, वही कर्मयोगी कर्म में काम और क्रोध के वेग को नियंत्रित करते हुए पाता है। दोनो ही दशा में मन और बुद्धि को नियंत्रित करने से यह अवस्था मिलती है किंतु मन और बुद्धि का नियंत्रण के लिए योग साधना जिसे पतंजलि योग साधना भी कह सकते है, अनिवार्य है।

सिद्ध पुरुष जगत् के प्रलोभनों में अपने मन का समत्व बनाये रख पाता है भगवान् कहते हैं जो पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल पर मन की काम और क्रोध की प्रवृत्तियों को विजित कर लेता है और शास्त्रों में उपदिष्ट दैवी जीवन के मार्ग का अनुसरण करता है वह आत्मज्ञान को प्राप्त करके इस समत्व को प्राप्त करता है जिसे कोई भी वस्तु या परिस्थिति विचलित नहीं कर पाती। वह इसी जीवन में तथा देह त्याग के पश्चात् भी ब्रह्मानन्द में ही स्थित रहता है।

अर्जुन के प्रथम अध्याय में ज्ञान द्वारा शास्त्रो के तर्क दे कर अपनी बात सिद्ध करने की बात कही गई थी। जब तक मनुष्य का अंतःकरण ज्ञान से प्रकाशित न हो, वह मन एवम बुद्धि द्वारा ज्ञान का दुरुपयोग अपने स्वार्थ, कामना, आसक्ति एवम मोह में करता है। किंतु ब्रह्म ज्ञान को वही जान सकता है जिस ने इच्छाओं एवम क्रोध पर नियंत्रण कर रखा है, जो ब्रह्म में रमता है और बाह्य जगत में अतिथि की भांति व्यवहार करता है। इसलिये जब तक अंतःकरण शुद्ध–बुद्ध न हो, उच्च विचार को लोग अपनी भावनाओं की पूर्ति के लिये, अपने अहम की संतुष्टि के लिये और अहंकार और व्यापार के लिये प्रयोग में लाते है। इसलिये स्पष्ट है कि बिना मनन के अध्ययन सांसारिक ही है। यदि मनन है तो निष्काम कर्मयोग या सांख्य योग के उच्चतम स्तर में कोई भेद नही है।

पांचवे अध्याय के अंतिम तीन श्लोक में हम पढेंगे कि जिस स्थिति को कर्मयोगी निष्काम कर्म करते हुए प्राप्त करता है उसी स्थिति को ध्यानयोग द्वारा भी योगी भी प्राप्त कर सकता है। भगवान श्रीकृष्ण द्वारा ज्ञान ठीक वैसे ही है जैसे चाय के प्याले में हम एक चम्मच चीनी तो डाल दे किंतु मिलाए नही, उस से चाय मीठी नही होगी। चाय में चीनी का प्रभाव तभी होगा जब वह चाय के साथ घुल जायेगी। इसी प्रकार किसी जीव पर प्रभाव बाहरी वस्तुओ या परिस्थितियों का तभी होता है जब उस का अंतःकरण में स्वभाव हो। ज्ञान जब तक अंतः करण में चाय में चीनी के समान नही घुल जाता, तब तक उस का जीव के स्वभाव में कोई अंतर नही आता। ब्रहसंध जीव परमब्रह्म के स्वरूप को तभी प्राप्त होता है जब वह अंतः करण से इस श्लोक में बताए गुणों से युक्त हो, यह गुण उस का स्वभाव हो गए हो। इसलिए ज्ञान के श्रवण के बाद मनन और निदिध्यासन आवश्यक है। इसलिए ज्ञान कर्मयोग और कर्म सन्यास योग में जो कहा गया है, उसे अपने अंतः करण में कैसे धारण करे, यह ध्यान योग कर्म योग और कर्म सन्यास योग दोनो के लिए आवश्यक है, जिसे हम मनन और चिंतन भी कह सकते है। यही अगले अध्याय का आधार होगा।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.26।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.27-28॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥

"sparśān kṛtvā bahir bāhyāṁś,
cakṣuś caivāntare bhruvoḥ..।
prāṇāpānau samau kṛtvā,
nāsābhyantara-cāriṇau..।।27।।

yatendriya-mano-buddhir,
munir mokṣa- parāyaṇaḥ..।
vigatecchā- bhaya- krodho,
yaḥ sadā mukta eva saḥ"..।।28।।

भावार्थ :

सभी इन्द्रिय–विषयों का चिन्तन बाहर ही त्याग कर और आँखों की दृष्टि को भोंओं के मध्य में केन्द्रित करके प्राण–वायु और अपान–वायु की गति नासिका के अन्दर और बाहर सम करके मन सहित इन्द्रियों और बुद्धि को वश में करके मोक्ष के लिये तत्पर इच्छा, भय और क्रोध से रहित हुआ योगी सदैव मुक्त ही रहता है (२७–२८)

Meaning:

Keeping external sense objects outside, and eyes in the centre of the eyebrows, and also equalizing the incoming and outgoing flow of breath inside the nostrils;

That person who has restrained his senses, mind and intellect, and whose ultimate goal is liberation, who is devoid of desire, fear and anger; that person is also a monk, he is ever liberated.

Explanation:

Shri Krishna gives a preview of the upcoming chapter on dhyaana yoga or meditation in this and the next shloka. He explains the technique of meditation in a nutshell but goes into the details in the next chapter. In a nutshell, the technique involves clearing the mind of all external sense object impressions, keeping eyes focused on one point, and equalizing the incoming and outgoing breath.

The eternal essence cannot be realized if the mind is dwelling on sense objects, therefore the technique requires us to temporarily cut off connection with sense objects. Practically, we cannot shut off the world completely i.e. if we hear a sound somewhere, it will enter into our ears. The point is that we should not let our mind chase any sense perception. Further, even if the mind is not receiving sensory inputs, it should be restrained from going into the past or the future.

Often renunciants are more inclined toward aṣhṭāṅg- yog or haṭha- yog along with their practice of asceticism. Their extreme detachment makes them disinterested in the path of devotion, which requires meditation on the Names, Forms, Pastimes and Abodes of God. Shree Krishna here describes the path that the ascetics take.

He says that such ascetics shut out thoughts of sense objects by controlling their sight and breath. They focus their gaze between their eyebrows. If the eyes are fully closed, sleep may overtake one; and if they are wide open, they may get distracted by the objects around them. In order to avoid both these defects, the ascetics concentrate their gaze, with eyes half-open, between the eyebrows or the tip of the nose. They also harmonize the praṇ (outgoing breath) with the apan (incoming breath), until both become suspended in yogic trance. This yogic process enables the controlling of the

senses, mind, and intellect. Such persons make liberation from the material energy as their only goal.

So in this manner, Shri Krishna describes how we should physically prepare ourself for meditation. In the next shloka, he points out the internal preparation. We notice that this shloka ends in mid- sentence. The rest of the sentence is found in the next shloka.

Shri Krishna continues the preview of steps needed for preparing ourselves for meditation. The "that person" refers to the person from the previous shloka who has prepared himself physically for meditation. Now, the internal preparation is pointed out.

First, Shri Krishna says that while sitting for meditation, there should be no other objective but that of liberation. If the objective is not pure, if one wants to harm someone by meditation, then the practice will be distracted, and the goal will not be reached. In the Puraanic literature, there are many examples of demons that practiced meditation for powers that would help them destroy others. Such goals are not to be harboured. The only goal should be liberation.

Also important is the role that we identify with when we sit for meditation. If sit down as father, we will always think of children. If sit down as an employee, we will think of job-related problems all the time. These roles do not go away easily due to our strong identification with one or many roles. There should be no role while meditation, only the goal of liberation.

So therefore, one who through karmayoga and purified his mind of fear, anger and desire, who has restrained his sense organs, and whose ultimate goal is liberation and not some worldly goal, that person is ready for meditation. But what is the object of meditation? The last shloka of this chapter addresses this point.

Such ascetic practices lead to atma jnana (knowledge of the self), not to brahma jnana (knowledge of God). Hence, the ascetic path must also be consummated through devotion to God, as stated in the next verse.

।। हिंदी समीक्षा ।।

परमात्मा के सिवाय सब पदार्थ बाह्य हैं। बाह्य पदार्थों को बाहर ही छोड़ देने का तात्पर्य है कि मन से बाह्य विषयों का चिन्तन न करे। बाह्य पदार्थों के सम्बन्ध का त्याग कर्मयोग में सेवा के द्वारा और ज्ञानयोग में विवेक के द्वारा किया जाता है। **यहाँ भगवान् ध्यानयोग के द्वारा बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध विच्छेद की बात कह रहे हैं।**

ध्यानयोग में एकमात्र परमात्मा का ही चिन्तन होने से बाह्य पदार्थों से विमुखता हो जाती है। वास्तव में बाह्य पदार्थ बाधक नहीं हैं। बाधक है इन से रागपूर्वक माना हुआ अपना सम्बन्ध।

अन्नमय कोश में अन्न को ग्रहण करने से ले कर मन और बुद्धि के विज्ञानमय और आनंदमय कोश तक जो भी हमे प्राप्त होता है वह प्रकृति के नियम से क्षणिक और बदलता रहता है। इसलिए सुख या दुख प्रत्येक अवस्था प्राकृतिक और मनोदशा पर आधारित है। जो एक के सुख हो जरूरी नहीं अन्य के लिए भी सुख हो और जो एक वस्तु से सुख मिले वह उस समय की कामना को पूर्ण करते हुए, पुनः जाग्रत होगी। इसलिए चिरस्थायी आनंद तो अपने को समझ कर प्राप्त करने में है। इस को प्राप्त करने के राग – द्वेष या काम – क्रोध पर नियंत्रण कैसे प्राप्त करे, इस विषय का प्रारंभ इस अध्याय के अंत में करते हुए अगला अध्याय की शुरवात यही से होती है।

यहाँ भ्रुवोः अन्तरे पदों से दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में रखना अथवा दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर रखना ये दोनों ही अर्थ लिये जा सकते हैं। कहते है कि भृकुटि के मध्य द्विदल आज्ञा चक्र है। इस के समीप ही सप्तकोश है, उन में अंतिम कोश का नाम ' उन्मनी':, वहाँ पहुच जाने पर जीव की पुनरावृत्ति नही होती है। इसलिए योगी गण आज्ञा चक्र में दृष्टि स्थिर किया करते है।

ध्यानकाल में नेत्रों को सर्वथा बंद रखने से लय दोष अर्थात् निद्रा आने की सम्भावना रहती है और नेत्रों को सर्वथा खुला रखने से (सामने दृश्य रहने से) विक्षेपदोष आने की सम्भावना रहती है। इन दोनों प्रकार के दोषों को दूर करने के लिये आधे मुँदे हुए नेत्रों की दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थापित करने के लिये कहा गया है। भृकुटि के बीच का शुद्ध अर्थ इतना ही है कि सीधे बैठने पर दृष्टि भृकुटि के ठीक मध्य से सीधे आगे पड़े।

नासिका से बाहर निकलने वाली वायु को प्राण और नासिका के भीतर जानेवाली वायु को अपान कहते हैं। प्राणवायु की गति दीर्घ और अपानवायु की गति लघु होती है। प्राण और अपान की स्वाभाविक गति विषम है। वाम में चलने को इडा नाड़ी में चलना और दक्षिण में चलने को पिडंगला में चलना कहते है।

इन दोनों को सम करने के लिये पहले बायीं नासिका से अपानवायु को भीतर ले जाकर दायीं नासिका से प्राणवायु को बाहर निकाले। फिर दायीं नासिका से अपानवायु को भीतर ले जाकर बायीं नासिका से प्राणवायु को बाहर निकाले। इन सब क्रियाओं में बराबर समय लगना चाहिये। इस क्रिया को चार से पाँच बार कर के स्वांश पर ध्यान दे कि वो कितने समय अंदर जा रही है और कितने समय पर बाहर आ रही है। इस के साथ कोई मंत्र जाप भी कर सकते है। इस प्रकार लगातार अभ्यास करते रहने से प्राण और अपानवायु की गति सम शान्त और सूक्ष्म हो जाती है। जब नासिका के बाहर और भीतर तथा कण्ठादि देश में वायु के स्पर्श का ज्ञान न हो तब समझना चाहिये कि प्राण अपान की गति सम हो गयी है। इन दोनों की गति सम होने पर (लक्ष्य परमात्मा रहनेसे) मन से स्वाभाविक ही परमात्मा का चिन्तन होने लगता है। यह पतंजलि योग में लोम – विलोम की क्रिया है।

प्रत्येक मनुष्य में एक तो इन्द्रियों का ज्ञान रहता है और एक बुद्धि का ज्ञान। इन्द्रियाँ और बुद्धि दोनों के बीच में मन का निवास है। मनुष्य को देखना यह है कि उस के मन पर इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है या बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव है अथवा आंशिकरूप से दोनों के ज्ञान का प्रभाव है। इन्द्रियों के ज्ञान में संयोग का प्रभाव पड़ता है और बुद्धि के ज्ञान में परिणाम का। जिन मनुष्यों के मन पर केवल इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है वे संयोगजन्य सुखभोग में ही लगे रहते हैं और जिन के मन पर बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव है वे (परिणाम की ओर दृष्टि रहने से) सुखभोग का त्याग करने में समर्थ हो जाते हैं। प्रायः साधकों के मन पर आंशिक रूप से इन्द्रियों और बुद्धि दोनों के ज्ञान का प्रभाव रहता है। उन के मन में इन्द्रियों तथा बुद्धि के ज्ञान का द्वन्द्व चलता रहता है। इसलिये वे अपने

विवेक को महत्त्व नहीं दे पाते और जो करना चाहते हैं उसे कर भी नहीं पाते। यह द्वन्द्व ही ध्यान में बाधक है। अतः यहाँ मन बुद्धि तथा इन्द्रियों को वश में करने का तात्पर्य है कि मन पर केवल बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव रह जाय इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव सर्वथा मिट जाय।

इन्द्रियों की भूख मन की चंचलता और बुद्धि की अस्थिरता इन सब को संयमित करने का एक मात्र उपाय है मोक्ष को अपने जीवन का परम लक्ष्य बनाना। लक्ष्य का निर्धारण करने पर समस्त कर्मों का उसी लक्ष्य के प्रति अर्पण करना चाहिए। बुद्धि पर संयम होने का अर्थ इच्छा भय और क्रोध से मुक्त हो जाना है।

सूत्रस्थानीय इन श्लोकों में भगवान् ने ध्यान योग का संक्षेप में संकेत किया है जिस का विस्तृत वर्णन अगले अध्याय में किया गया है। संस्कृत में ब्रह्मविद्या के ग्रन्थों की यह पारम्परिक शैली है कि प्राय उन में एक अध्याय के अन्तिम श्लोकों में आगामी अध्याय के विषय की प्रस्तावना प्रस्तुत की जाती है। छठा अध्याय ध्यान योग पर है जिसे हम विस्तृत रूप में पढ़ेगे। ध्यान योग का अध्याय पतंजलि के अष्टांग योग का ही समर्थन करता है। ध्यान की यह प्रक्रिया आत्म ज्ञान के लिये पर्याप्त है जिस से जीव कामना एवम आसक्ति से मुक्त हो, किन्तु ब्रह्मसन्ध की स्थिति में क्या करना होगा, यह आगे के श्लोक में पढ़ेंगे। कल अंतिम श्लोक से साथ हम पांचवे अध्याय का भी समापन करते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.27-28।।

।। ज्ञान, ध्यान और हम ।।विशेष 5.27-28 ।।

ज्ञान के तीन स्वरूप माने गए है, प्रथम जो भौतिक या मानसिक ज्ञान, जिसे हम व्यवहारिक जीवन मे उपयोग में लाते है, द्वितीय आध्यात्मिक ज्ञान जिस में हम अपनी कामना –आसक्ति को त्याग के निष्काम हो कर लोकसंग्रह हेतु कर्म करे, भक्ति या योग करे।अंतिम ब्रह्म ज्ञान में अपने अहम हो त्याग कर ब्रह्म से एक रूप हो। जब तक परब्रह्म की आराधना करने वाला एवम परब्रह्म है तो वह द्वैत है और जब दोनों मिल गए तो अद्वैत है। अतः ज्ञान की अंतिम एवम तृतीय अवस्था अद्वैत अर्थात ब्रह्मसन्ध की है।

जीव को कार्योपाधि के बंधा अर्थात कर्म से बंधा कहा जाता है। जब हम ध्यान में अपने सांसारिक दुखो के निवारण की और केंद्रित होते है तो यह सांसारिक निम्न कोटि का ध्यान है। अक्सर पूजा पाठ, यज्ञ, जप आदि में हम अक्सर TV मे देखते है कि आचार्य बने लोग छोटे छोटे टोटके बताते है, जिस से आप को कोई सांसारिक लाभ मिले। ईश्वर को कारणों उपाधि कहा जाता है। ईश्वर यानी संसार को चलाने वाली एक नियम शक्ति को कहते है। यह शक्ति प्रकृति और माया से इस संसार को चलाती है और जीव को उस के कर्मों के अनुसार फल देना, क्षमा करना या उस के पुनर्जन्म को तय करती है। इस का ध्यान माध्यम कोटि का ध्यान है जो जीव को देवताओं की श्रेणी में खड़ा करता है। जो यज्ञ, जप, दान पुण्य स्वर्ग या देवलोक के लिए जाते है, वे इस श्रेणी में आते है। योगी का पूर्ण ध्यान अपनी शक्ति को केंद्रित करने लगा रहता है जिस से वह कुछ सिद्धियों को भी प्राप्त करता है। ईश्वर और जीव से परे जो तत्व सत और असत है और जो यह दोनो भी नही है तथा जो देश, काल और वस्तु से परे है, वही ब्रह्म है। ध्यान से मुक्ति का अर्थ है अपने ब्रह्म स्वरूप में लीन हो जाना। जब जीव ध्यान में यह अवस्था को प्राप्त हो जाता है तो उसे ब्रह्मस्वरूप अर्थात ब्रह्म ही कहा जाता है, यही अद्वैत भी है।

इन्द्रिय– मन– बुद्धि में अहंता अर्थात अहम का ज्ञान ही मूल है। फिर इच्छा, भय और क्रोध कर के यह अहंता अधिक से अधिक मजबूत होता है। अतः मुमुक्षु के लिए आवश्यक है कि वह काम, क्रोध एवम भय का त्याग करें और संशय रहित हो कर अपने वास्तविक स्वरूप को समझे। अतः इस के आवश्यक प्रक्रिया ध्यान है, जिस का विस्तृत विवरण महृषि पातंजलि ने योग सूक्तम में किया है। योग सूक्तम – सांख्य योग के भाग के रूप में आरम्भ से शारीरिक, मानसिक एवम बौद्धिक विकास का व्यवहारिक ज्ञान एवम विधि है जिस से कोई भी मनुष्य ब्रह्मसन्ध की स्थिति को प्राप्त कर सकता है। गीता में इस मे से मुख्य भाग ध्यान योग पर हम अध्याय 6 में पढ़ेंगे।

प्रस्तुत श्लोक ध्यान योग की भूमिका है जिस में ध्यान लगाने की विधि से अवगत कराया गया है अतः कुछ अधिक लंबा भी हो गया है। ध्यान एक गूढ़ एवम सर्वप्रचलित प्रक्रिया है इस में बाह्य एवम आन्तरिक समस्त क्रियाओं को समाप्त करते हुए, इंद्रियाओ, मन, बुद्धि एवम मन एवम बुद्धि के मध्य विवेक आदि समस्त प्राकृतिक साधनों को एकाग्र करते हुए परमात्मा में लीन करना होता है फिर वहां सिर्फ और सिर्फ परमात्मा ही होता है।

ध्यान की उच्च अवस्था मे योगी चलते, फिरते, बात करते सुनते, कर्म करते हुए हमेशा परमात्मा में लीन रहता है। यह नई बात अर्जुन को लगी जो अभी तक सांख्य एवम कर्म योग में उलझा हुआ था। अतः भगवान श्री कृष्ण अगले अध्याय में ध्यान योग के बारे में बताना शुरू करते है।

ध्यान के मामले में प्रायः अनेक अवधारणा एवम भ्रम प्रचलित है, इसलिये यह अध्याय से हम आशा रखे कि हमारे ज्ञान को नया मार्ग दर्शन होगा। ध्यान का अर्थ प्रायः मन की निष्क्रिय अवस्था से लिया जाता है। जब हम शरीर की समस्त इंद्रियों के बाह्य आकर्षण को समेट कर मन में केंद्रित करे, तो वह ध्यान कहलाता है। किंतु क्या यह संभव है। ध्यान का अर्थ है चिंतन, श्रवण तो कानो से होता है। इस के अतिरिक्त हम आंखों, नासिका और जिव्हा से भी कुछ न कुछ ग्रहण करते ही है। किंतु इस ग्रहण में धारण करने योग्य और त्यागने योग्य को समझने को ध्यान कहते है। क्योंकि मन बुद्धि से जुड़ा है और वह जो आनंद के लिए धारण करता है उस को साक्षी भाव से जो देखता है, वही प्राणी का स्वरूप है। जो हम खाते है, उस खाने की प्रक्रिया को शरीर कर्मेंद्रियो से करता है किंतु खाने के आनंद को जो महसूस करता है, वह उस जीव का आत्म स्वरूप होता है। इस जीव को अधिक से अधिक आनंद कब प्राप्त या महसूस होगा, जब यह स्थायी होगा। प्राकृतिक आनंद अस्थायी होता है। इस लिए मन को बाह्य आनंद की बजाय चिंतन द्वारा आत्मिक आनंद को ओर ले जाना, ही ध्यान है। इस को विशेष अवस्था में बैठ कर करने में सुविधा है किंतु यदि वह अवस्था चिंतन को शुरू करने की हो सकती है, ध्यान नहीं है। ध्यान योग मुद्रा त्यागने से बंद या पूर्ववत नही होगा, अतः ध्यान मन की अवस्था शरीर में 24 घंटे चलने वाली अवस्था है जो चलते फिरते, सोते जागते, खाते पीते सभी समय शुरू रहती है। मन प्राकृतिक सुखों का उपभोग भले ही करे किंतु उस पर आसक्त नही रहता। चिंतन ही जीव को पूर्ण ब्रह्म से जोड़ता है और उस आनंद में रहने वाला जीव सांसारिक सुख और दुख में समभाव रहता है।

पांच ज्ञानेद्रियो के अतिरिक्त इस संसार की यदि कोई भोग या महसूस करता है, वह प्रकृति के संयोग से लिप्त ब्रह्म स्वरूप आत्मा ही है। यह आत्मा हमे बार बार अनेक बार संपर्क करती है, विशेष तौर पर जब मन और

बुद्धि आसक्ति, कामना में तमो गुण की बढ़ना शुरू करते है। इस को हम sixth sense अर्थात छठी इंद्री भी कहते है। छठी इंद्री हमारे ही मन की निर्लिप्त अवस्था है जो ध्यान की अवस्था में जब पांचों ज्ञानेद्रियों पर नियंत्रण हो जाने से सक्रिय हो जाती है। इस इंद्री के सक्रिय होने से जीव को ध्यान में जो अनुभव होते है, वह आध्यात्मिक, कालातीत और ब्रह्म की ओर ले जाने वाले होते है। ध्यान में छठी इंद्रिय को सक्रिय कर के रहने वाले जीव शांत और निष्काम कर्मयोगी ही होता है।

ध्यान हमारी छठी इंद्री चेतन को जाग्रत करता है। चेतन और चेतन्य यह जीव के दो स्वरूप है, जब तक जीव भ्रम में प्रकृति से अज्ञान वश जुड़ा रहता है तो वह कर्तृत्त्व एवम भोक्तत्व भाव से बन्धन में रहता है, इंद्रियां, मन और बुद्धि इस भ्रमित चेतन की आसक्ति, कामना एवम कर्ता भाव मे कार्य करती है। खाने में स्वाद, फूलों में रंग और सुंदरता आदि जो हमारे अंदर महसूस करता है वह चेतन है। यही चेतन ज्ञान से अपने भ्रम हो जब तोड़ कर अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है, तो वह चेतन्य कहलाता है।

बुद्धि के जाग्रत होने से हम यदि अपने भले और बुरे की पहचान कर पाते है, तो यही मन और बुद्धि ही साधन है जिस से जीव को अपने कर्ता और भोक्ता होने के अज्ञान से मुक्ति पाने का। ब्रह्म से जीव अलग होकर महंत भाव से जुड़ गया, यह अहम से अज्ञान हुआ कि वह कर्ता और भोक्ता है। वही भाव जिस से अज्ञान हुआ, मन और बुद्धि को नियंत्रित करने ज्ञात हो पाता है जिस से जीव अपने महंत को त्याग कर ब्रह्मसंध अवस्था को प्राप्त कर पाता है।

अतः ध्यान स्वस्थ शरीर और मन के लिए कोई योग शास्त्र नही है जिसे अक्सर हम व्यवहारिक योग गुरु से सीखते है। ध्यान से उठते ही यदि हमारा व्यवहार पुनः अपनी अवस्था को प्राप्त कर ले तो यह भी एक प्राकृतिक क्रिया ही है। इसलिए ध्यान की वास्तविक अवस्था पतंजलि योग शास्त्र में वर्णित अष्टांग योग में समाधि के पश्चात की अवस्था है। इसे हम आगे विस्तार से पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 5.27-28 विशेष ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 5.29॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

"bhoktāraṁ yajña-tapasāṁ,
sarva-loka-maheśvaram..।
suhṛdaṁ sarva-bhūtānāṁ,
jñātvā māṁ śāntim ṛcchati"..।।

भावार्थ :

ऐसा मुक्त पुरूष मुझे सभी यज्ञों और तपस्याओं को भोगने वाला, सभी लोकों और देवताओं का परमेश्वर तथा सम्पूर्ण जीवों पर उपकार करने वाला परम–दयालु एवं हितैषी जानकर परम–शान्ति को प्राप्त होता है। (२९)

Meaning:

Having known me as the recipient of sacrifices and austerities, as the controller of all worlds, and as the well-wisher of all beings, (he) will attain peace.

Explanation:

In the prior two shlokas, Shri Krishna provided a preview of meditation. In this shloka, he gives us the objective of meditation. In other words, this shloka tells us what one comes to know in the state of meditation. This shloka is a preview of the topic covered in the seventh chapter to the twelfth chapter, which is the elaboration of Ishvara.

The ascetic sādhanā, explained in the previous two verses, can lead to ātma jñāna (knowledge of the self). But brahma jñāna (knowledge of God) requires the grace of God, which comes through devotion. The words sarva loka maheśhwaram mean “Sovereign Lord of all the worlds,” and suhṛidaṁ sarva- bhūtānāṁ means “benevolent well- wisher of all living beings.” In this way, He emphasizes that the ascetic path too is consummated in surrender to God, with the knowledge that the Supreme Lord is the enjoyer of all austerities and sacrifices.

The goal of meditation is to realize the eternal essence. It is akin to a wave that realizes its identity with water. In this manner, the wave realizes that it is no longer the finite entity that it once was. It is one wave but also it is many waves. It is the entire ocean. Similarly, once the meditator realizes oneness with brahman or the eternal essence (water) , he attains Ishvara (ocean).

So, one should withdraw all the sense organs from the external world; indriya means senses; manaḥ means mind; buddhihi means intellect are these withdrawn from the external world and get rid of all the emotional disturbances, desire, fear and anger and your mind is turned towards only one thing i.e. meditate upon the Lord. Who is the receiver of all the poojas, who is the object of worship, yajñā and tapas and who is the ultimate Lord of the entire creation And who is located in the hridayam of all the beings.

He will attain peace of mind; he will attain both jīvan mukti and vidēha mukti, this is the nutshell.

Who exactly is Ishvara is covered in the chapters seven through twelve. Only few of his attributes are covered here. First, he is the cosmic enjoyer or the cosmic recipient. Any work that is performed for the welfare of society is automatically dedicated to Ishvara. This was the theme of the third chapter on karmayoga where we are advised to act in a selfless manner, and dedicate the results of our actions to a higher ideal. Ishvara is the highest ideal possible because he encompasses the entire cosmos.

Next, Ishvara is called the controller of all beings. Through prakriti or maaya, Ishvara manifests as the laws or rules by which our lives as well as the lives of plants, animals and inert objects are governed. We saw earlier that the universe functions through inherent laws such as gravity and electromagnetism. In that regard, Ishvara through these laws controls us.

This Fifth Chapter is a practical explanation of Krishna consciousness, generally known as karma- yoga. The question of mental speculation as to how karma- yoga can give liberation is answered herewith. To work in Krishna consciousness is to work with the complete knowledge of the Lord as the predominator. Such work is not different from transcendental knowledge. Direct Krishna consciousness is bhakti- yoga, and jnana-yoga is a path leading to bhakti- yoga. Krishna consciousness means to work in full knowledge of one's relationship with the Supreme Absolute, and the perfection of this consciousness is full knowledge of Krishna, or the Supreme Personality of Godhead. A pure soul is the eternal servant of God as His fragmental part and parcel. He comes into contact with maya (illusion) due to the desire to lord it over maya, and that is the cause of his many sufferings. As long as he is in contact with matter, he has to execute work in terms of material necessities. Krishna consciousness, however, brings one into spiritual life even while one is within the jurisdiction of matter, for it is an arousing of spiritual existence by practice in the material world. The more one is advanced, the more he is freed from the clutches of matter. The Lord is not partial toward anyone. Everything depends on one's practical performance of duties in Krishna consciousness, which helps one control the senses in every respect and conquer the influence of desire and anger. And one who stands fast in Krishna consciousness, controlling the abovementioned

passions, remains factually in the transcendental stage, or brahma-nirvana. The eightfold yoga mysticism is automatically practiced in Krishna consciousness because the ultimate purpose is served. There is a gradual process of elevation in the practice of yama, niyama, asana, pranayama, pratyahara, dharana, dhyana and samadhi. But these only preface perfection by devotional service, which alone can award peace to the human being. It is the highest perfection of life.

Finally, Ishvara's laws are fair. They treat everyone equally. They work without any expectation or ulterior motive. They also work non-stop, just like our heart beats and our breath functions all the time. In this manner, Ishvara is the highest well-wisher and friend of all beings. If we too make friends with Ishvara, which is another way of saying that we work in the best interest of the world, we do not have to worry about our well-being. Ishvara takes care of us.

So therefore, one who comes to know the eternal essence, and realizes his unity with Ishvara during meditation, attains peace. This is the concluding message of the fifth chapter of the Gita.

।। हिंदी समीक्षा ।।

हर व्यक्ति के अंदर अहम पलता है जिस से वो कामना करता है एवम राग–द्वेष भी। इसी अहम के कारण उसे संसार मे हर प्राणी पृथक दिखाई पड़ता है। यही उस का कृतर्त्व भाव एवम भोक्तत्व भाव है।

हम जिस की सेवा करते है या कोई भी उपकार करते है तो प्रतिकार में हमे भलाई की भी उसी से अपेक्षा करते है। कोई बुरा कार्य करते है तो भी उस का परिणाम भी उसी से प्राप्त हो यह मानते है। किंतु परमात्मा सभी मे समान रूप से है, उस के हजारों हाथ एवम आंखे है। अतः सेवा का फल किस हाथ से लेगा और किस हाथ से लौटा देगा यह हम नही जानते। हमारी बुराई भी कब, कहाँ और किस रूप में हमारे सामने आएगी यह भी नही जानते। जब तक हमारा अहम है हम अपने को कर्ता भी मानते है और इसलिए अपने हर कर्म के फल को भी प्राप्त होते है।

अतः कर्मयोग, सांख्य योग, ज्ञान योग और अब ध्यान योग से हम समतत्व की ओर बढ़ते है। सम भाव पैदा होते ही अहम नष्ट होता है फिर हर प्राणी, जीव जंतु में परमात्मा ही दिखाई पड़ता है।

हर जीव जंतु, वृक्ष, पौधे सभी मे आत्मा के रूप में परमात्मा ही है। इसलिए भगवान को सर्वशक्तिमान, सर्वनियन्ता, सर्वाध्यक्ष और सर्वेश्वरीश्वर समझना ही उन्हें सर्वलोकमहेश्वर समझना है। क्योंकि इंद्र, वरुण, कुबेर, यमराज आदि जितने लोकपाल है तथा विभिन्न ब्रह्मांडो में अपने अपने ब्रह्मांड का नियंत्रण करने वाले जितने भी ईश्वर है, भगवान उन सभी के स्वामी और महान ईश्वर है।

जब तक अज्ञान रहता है तो हम सुख, शांति और आनन्द भी अज्ञान में ही खोजते है। एक छोटे बालक की तरह खिलोने में पूरा संसार दिखता है। फिर बड़े होने में यही संसार परिवार, समाज, देश एवम व्यापार और व्यवसाय में दिखता है। एक चित्रपट पर चलते हुए सिनेमा की तरह परिस्थितियां करवट लेती रहती और कुछ भी स्थायी नही रहता। किन्तु ज्ञान होने से मिथ्या का अध्यास हो जाता है और हम उस चिरानंद की ओर बढ़ने लगते है।

अतः कर्ता हो या भोक्ता सभी वो ही है, इस प्राकृतिक शरीर का कोई अस्तित्व नही। जिसे हम अपना या मेरा कह कर पुकारते है वो इस शरीर के नष्ट होने के साथ समाप्त हो जाता है क्योंकि साथ कुछ भी नही जाता। इसलिये परमात्मा के साथ लय होना ही मोक्ष धर्म है। प्राणी मात्र में परमात्मा को देखना, उस को ही प्रदान करना एवम उस की ही सेवा करना ही समत्व भाव है जहां अपने लिए कुछ भी नही।

परमात्मा ही सृष्टि यज्ञ च्रक का लालन पालन करता है, वो ही इसे गति देता है, वो ही इस का संहार करता है। वो ही प्रकृति द्वारा त्रियामी गुणों एवम माया से इस संसार को चलाता है, वो ही दंड एवम न्याय की व्यवस्था एवम सेवा का पुरष्कार निर्धारित करता है, वो ही अवतरित होता है। जो कर्ता होते हुए भी अकर्ता है, जो जन्म ले कर भी अजन्मा है उस के दिव्य जन्म एवम दिव्य कर्म को जिस ने जान लिया वो ही ब्रह्मसंस्थ योगी पुरुष तत्वदर्शी है। ऐसे की मुक्त पुरुष परमात्मा को प्राप्त हो कर मोक्ष पाते है।

भगवान श्री कृष्ण परब्रह्म के स्वरूप में प्राणी प्राणी में विद्यमान है, वह देव, मनुष्य, राक्षस, गंधर्व, यक्ष या अन्य कोई भी जीव, जड़ या चेतन में समाया हुआ है। यह सृष्टि उस संकल्प का मूर्तमान स्वरूप है, इसलिए जो व्यक्ति अपनी कामनाओं, आसक्ति और अहम को त्याग कर परमात्मा को श्रद्धा, प्रेम और विश्वास से पूजते हुए ब्रह्मस्वरूप स्थिति को प्राप्त हो जाता है,वह जानता है कि किसी देवी देवताओं या किसी भी अन्य की पूजा करो, किसी भी देवता के लिए तप करो, वह सब परमात्मा को ही प्राप्त होता है जो मानवावतार में भगवान श्री कृष्ण के रूप है। यह परमात्मा ही सभी जगह व्याप्त है, सभी का हितेषी और दयालु है और असीम आनंद और शांति देने वाला है।

वस्तुतः जब व्यक्ति श्रद्धा, प्रेम और विश्वास के साथ भगवान को समर्पित हो कर स्मरण करता है तो वह ब्रह्म स्वरूप को जान लेता है, जो भक्ति मार्ग का भी स्वरूप है।

पांचवे अध्याय के इस अंतिम श्लोक के साथ यह अध्याय समाप्त होता है। कल इस का सारांश के पश्चात छठवें अध्याय में ध्यान योग को पढ़ेंगे।

।।हरि ॐ तत सत।।5.29।।

।। गीता के अध्ययन से अध्यात्म की यात्रा कैसे शुरू होगी यह चिन्तन का विषय है।। विशेष 5.29।।

प्रस्तुत अध्ययन बिल्कुल वैसा ही है जैसे किसी विषय एकाउंट्स की पुस्तक को पढ़ना, देश के कानून एवम एकाउंट्स की पेचीदियो को समझना एवम व्यापार के अनुसार उस को उपयोग में ला कर उपयोगी बनाना। व्यवसायिक या जीविका अध्ययन मे आगे चार पैसे भी कमाई भी होती है।

जन्म से हम अधिकांशतः अतिभौतिकवाद में जीना शुरू कर देते है जिस का अर्थ है कि जो भगवान ने जीवन दिया है उसे कैसे अधिक से अधिक सुख और आनंदमय व्यतीत कर सके। इस के पढाई, शादी, परिवार, पद, प्रतिष्ठा और धन में ही जीवन उलझ जाता है। किंतु बीच बीच में प्रकृति यह भी अहसास दिलाती रहती है कि संसार की घटनाओं में हमारा नियंत्रण सीमित है। उसे को नियंत्रित कर रहा है उस को प्रसन्न रखो तो तुम्हारा उद्धार भी होता रहेगा। इसलिए पूजा पाठ, यज्ञ, दान, व्रत और उपवास इत्यादि में हम सांसारिक सुखों को या मृत्यु के बाद स्वर्ग आदि की अपेक्षा रखते है।

वैसे भी कहते है दो जून की रोटी और पारिवारिक जिम्मेदारियां भी जीव को इसी संसार में उलझा देती है। इस बीच यदि अहंकार बढ़ जाए तो समझो उस जीव का बेड़ा गर्क ही हो गया, फिर वह आसुरी प्रवृति में हिंसा और अनैतिक कामों में भी सुख महसूस करने लगता है।

किंतु संसार के इस गतिमान चक्कर में कभी कभी किसी संत या सनातन पुरुष की संगत मिलने से आध्यात्मिक ज्ञान में भागवत, गीता, राम चरित मानस आदि ग्रंथों को समझने और पढ़ने का अवसर मिल जाता है।

किन्तु गीता के अध्ययन के बाद भी इस का ज्ञान हमारे अंतःकरण को नही छू पाता और बाह्य मष्तिष्क में सम्मलित रहता है और उस के लिए व्यावसायिक बुद्धि से हम अपने सम्मान या धन या पद की अपेक्षा रखते है, यह हमारा ज्ञान का अहंकार ही है। जैसे गीता पढ़ने से हम अन्य पुरुषो से श्रेष्ठ जीव हो गए। क्योंकि जिस बाह्य ज्ञान पर हम अपना अधिकार दिखा रहे है, वह मिथ्या अहम ही अहंकार है। इसी अहंकार से ही प्रकृति अपने सत–रज–तम गुणों के क्रिया करते हुए जीव को भ्रमित करती रहती है। जीव ज्ञान का व्यवसायिक करण करने में लग जाता है।

जन्म लेते ही साथ कुछ नही लाते, यह सम्पूर्ण प्रकृति, धरती, आकाश, जल, सागर, सूर्य, चंद्र एवम तारे आदि सभी अपना अपना कार्य इस सृष्टि के लिये करते है किंतु जीव इन सब मे मैं, मेरा और अपना खोजता है। मेरा घर, मेरा खेत, मेरी दुकान, पत्नी, बच्चे, माँ–बाप, दोस्त आदि आदि। इस अनन्त को सीमित कर लेता है। यह अहम है अर्थात जो अपना है नही, किन्तु उस पर अपने होने का अधिकार दिखाना। भला कौन सी वस्तु उस के पास रह पाती है, जाता तो खाली हाथ ही है। अहम का अर्थ ही मिथ्या, जो नही है, उसे अपना मानना।

सुबह चाय की चुस्की के साथ टीवी या अखबार में हम दुर्घटना या मृत्यु के समाचार को पढ़ते है और अफसोस भी व्यक्त करते है। किंतु किसी जान पहचान वाले की मृत्यु का समाचार हो तो संवेदना का स्तर उस के साथ की जान पहचान के अनुसार बढ़ जाती है किंतु चाय नही छूटती और यदि यह मृत्यु घर, परिवार में हो तो शायद चाय पीने की भी सुध नहीं रहे। ऐसे ही अच्छी गाड़ी को गर्व से कहते है कि मेरी है किंतु गाड़ी तो गणिका जैसी है, वह कभी आप को मेरा नही कहती। जो चलाए, वह उस की हो जाती है। तो संसार की चीज से हम ही बंधते है, वस्तुएं कभी नहीं बंधती।

अहम का अज्ञान कितना शक्तिशाली है कि हम अपने ज्ञान का भय भी मृत्यु के समान दिखता है। पता नही, ज्ञान होने से मेरा 'मैं' नही रहेगा तो फिर इस नाम, शरीर, परिवार, मित्र, संपति और जग में कमाई ख्याति का क्या होगा। अपने को अंधेरे और झूठ के साथ रखने का कारण अहम ही है। यही अहम वहम से जुड़ गया। क्योंकि अहम को अपने शास्वत न होने का पता है, इसलिये वह वेद, शास्त्र, गीता का अध्ययन करता है, अपने

सांसारिक ज्ञान में वृद्धि करता है और जगत को बतलाता है, देखो मुझे भी यह सब पता है, मैने भी ब्रह्म को पढ़ा है। ठीक दुर्योधन की भांति, उसे भी अहम था कि वह योद्धा है जिसे जीतना दुर्गम है, जो ज्ञान को जानता है, लोगो को सुनाता है , किन्तु मुक्त होने के लिये मनन नही करता। वह अपनी प्रवृति से मजबूर है, उस ने अपने को संसार के खूंटे से झूठ–मुठ का बांध लिया है, किन्तु मानता नही क्योंकि अहम का अहंकार उसे मानने से मना कर देता है।

कान वही सुनते है जो शब्द या वाक्य उस में प्रवेश करते है, और उस के सुने शब्दो को मन ग्रहण करता है और बुद्धि को भेज देता है। मन और बुद्धि यदि व्यवसायिक है तो वह उस का अपनी कामना और आसक्ति के अनुसार उपयोग करती है। किंतु यदि जीव विवेक का उपयोग करे तो सुने, देखे और अनुभव किए शब्दो पर मनन से निर्णायक कार्य कर सकती है। इस लिए ज्ञान में श्रवण के बाद मनन करना आवश्यक है। किंतु मनन से निश्चयात्मक स्थिति तक नही पहुंच पाते तो निदिध्यासन द्वारा पहुंचा जा सकता है।

मनन और निदिध्यासन ज्ञान के संशय का निवारण भी करता है और व्यक्ति को अतिभौतिकवाद में फसा पड़ा होता है, उस से उसे सही मार्ग में लाता है। इस के ध्यान द्वारा चिंतन आवश्यक है और इसलिए युद्ध भूमि में अर्जुन के संशय के निवारण के लिए संपूर्ण ज्ञान को भगवान अध्याय 6 से शुरू करते है जो ज्ञान के अध्याय 7 से 12 की पृष्ठ भूमि है।

अध्याय 5 में भगवान श्री कृष्ण उस मनुष्य के गुणों का वर्णन श्लोक 17 से शुरू करते है जिस ने ब्रह्म को जीते जी प्राप्त कर लिया हो। इस ब्रह्मसन्ध पुरुष का समभाव, स्थितप्रज्ञ, आत्मा में ही चिरआनन्द लेना एवम बाह्य इन्द्रीयजनित सुखों में कोई कामना या आसक्ति न रखना, यतात्मान, संदेह या संशय रहित, शरीर–मन–इन्द्रिय–बुद्धि पर नियंत्रण जिस से राग–द्वेष और काम–क्रोध के वेग को संभाला जा सके और मनुष्य सर्वभूत हिते रहना शुरू करे जिस से अहम भी न उत्पन्न हो।

अहंकार मनुष्य को ब्रह्म से पृथक रखता है क्योंकि यह प्रकृति प्रदत्त कर्ता भाव है, जो 'मैं' के स्वरूप में प्रकट होता है।

अहंकार की नींव मिथ्या धारणा पर है अर्थात अज्ञान पर है। मैं का क्या अर्थ ले सकते है, शरीर – यह परिवर्तन शील एवम क्षय को प्राप्त है। बौद्धिक ज्ञान – जब तक अन्तकरण से नही उपजा, यह भी किसी से प्राप्त ज्ञान है और अंतःकरण से यदि प्राकृतिक ज्ञान है, तो पहले से ही था। संपत्ति कभी भी स्थायी या मनुष्य के साथ नही जाती। अतः जिसे मनुष्य अपनी मान कर अहंकार करता है, वह उस का मिथ्या ज्ञान का ही अहंकार है।

ज्ञान से भ्रम का अध्यास होना चाहिये। जिसे हम सोना मानते है, वह परखा जाना चाहिये कि सोना है कि नही। जिस मजहब से या मत से, धर्म से हम मुक्ति मानते है और अन्य मजहब, धर्म या मत से हम नही मानते, वह ज्ञान द्वारा अपने अध्यास से दूर होगा। अध्यास से वस्तु, धर्म, मत, मजहब नही बदलता, वरन ज्ञान उत्पन्न होता है कि वह वास्तव में क्या है। जिस से अहम, कामना या आसक्ति है, इन सब का ज्ञान से अध्यास होना चाहिए। अहम का भी ज्ञान से जब तक अध्यास नही होगा, हम किंतने भी ग्रन्थ पढ़े, गीता पढ़े, उच्च कोटि के वाक्यो का उच्चारण करे, अहम का अज्ञान नष्ट नही होगा।

ज्ञान से अहंकार का अध्यास होने से उस वस्तु, पद, स्थिति में जो मिथ्या अपने होने का भ्रम है, वह समाप्त होता है। बदलता कुछ नही, जो है, वह वही रहता है किंतु उस के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है। भ्रम के मिटने से अन्तकरण का अज्ञान समाप्त होता है, जिस से अहंकार भी अहम के साथ समाप्त हो जाता है। यही अध्यास हमे ब्रह्म बोध करवाता है कि हम जो अपने को सोच रहे है, वो हम नही है। जो हम है, उस का ज्ञान होना ही, तत्वदर्शन है। फिर बदलता कुछ नही, किन्तु कर्म करते समय भाव बदल जाते है।

अतः गीता अध्ययन के अध्यात्म से जीवन में बदलता कुछ नही, परिवर्तन दृष्टिकोण में होता है। जिस कार्य को हम अहम, कर्ता भाव और भोक्ता भाव से करते आए है, वही कर्म हमे निष्काम, निरासक्त और अकर्ता भाव से करने होते है। हमारा उद्देश्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है किंतु कर्म का उद्देश्य लोभ, मोह और ममता की अपेक्षा कर्तव्य कर्म और लोकसंग्रह का हो जाता है। जो क्रियाएं ईश्वरीय शक्ति से होता है और जीव के अधिकार क्षेत्र से बाहर है, वह ईश्वर का प्रसाद समझ कर स्वीकार करने की प्रवृति में आ जाता और हम धीरे धीरे शांति और आनंद की ओर बढ़ने लगते है।

अब पुनः उसी प्रश्न पर आ जाये कि गीता का अध्ययन – मात्र अध्ययन है या अध्यात्म। कभी विचार करे, क्या आप सभी कार्य सजग मष्तिष्क से करते है, क्या सभी विचार आप स्वयं उत्पन्न करते है। उत्तर होगा,नही। चेतना में सुप्त एवम अवचेतना भी रहती है, जो प्रारब्ध, संचित कर्म एवम देखने–सुनने–पढ़ने एवम अनुभव के आधार में हमारे मन–मष्तिष्क दिलो दिमाग मे रहती है और कभी भी, कंही भी जाग्रत होती है। सुविचार हमारे मन को क्यों प्रभावित करते है, इस का यही कारण है। इसलिये गीता के अध्ययन से अध्यात्म की नींव तो रखी ही जा रही है। यह नींव पर आत्म ज्ञान की इमारत कब खड़ी हो जाये, इस के थोड़ा प्रयास या प्रेरणा भी परब्रह्म से ही मिलेगी। जीव का मार्ग हमेशा मुक्ति की ओर ही होता है, यह कितनी लम्बी यात्रा है, इस को कैसे और किस प्रकार जल्दी तय करना है, इस का एक मात्र रास्ता मनुष्य जन्म में ही मिलता है, जहां कर्म का अधिकार है। बाकी जन्म तो कर्म के भोग ही होते है।

अहंकार वस्तुतः अज्ञान ही है। इस के हम शंकराचार्य जी के कुछ वचन भी पढ़ते है। अथर्व–श्रुति की महती वाणी कहती है–– यह विश्व सबकुछ ब्रह्म ही है–– इसलिए यह विश्व ब्रह्म–मात्र ही है, क्योंकि अधिष्ठानसे आरोपित वस्तु की प्रथक् सत्ता हुआ ही नहीं करती।।

यदि यह जगत् स्वरूपः सत्य होता, तो उसका कभी नाश नहीं होता और इससे वेद तथा भगवान का(गीता की कही) भी मिथ्यात्व प्रमाणित हो जाता। अतः जगत् को सत्य मानने से उत्पन्न होने वाले ये तीनों दोष सत्पुरुषों के लिये शुभ और हितकर नहीं हैं।।

'तत्(वह/ब्रह्म) और 'त्वम्'(तुम/जीव) के बीच जो भेद है, वह वास्तविक नहीं, अपितु उपाधि द्वारा कल्पित मात्र है। ईश्वर की उपाधि महत् आदि तत्वों की कारणभूत 'माया' है और जीव की उपाधि 'पंचकोश' है।।

आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी, 'मैं कर्ता और भोक्ता हूँ '--ऐसी जो दृढ तथा बलवती अनादि वासना रह जाती है, वही संसार–बन्धन का हेतु है। इस बन्धन को अन्तर्मुखी दृष्टि की सहायता से, अपने आत्मस्वरूप में रहते हुए, प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिए। संसार में वासना की निवृत्ति को ही मुनियों ने मुक्ति कहा है। ।

स्थूल–शरीर में व्याप्त हुई अहंबुद्धि को नित्यानंदस्वरूप चिदात्मा में स्थित करके, सूक्ष्म–शरीर में भी अहंता को त्याग कर, हमें सर्वदा अद्वैत–स्वरूप में रहना है। ।

मनुष्य के संसार–बन्धन की प्राप्ति के कारणरूप अनेक बाधाएं दीख पड़ती हैं, उन सबका मूल कारण अहंकार––मैं, मेरा बोध–– ही है; क्योंकि अन्य समस्त अनात्मभावों –– लोभ,क्रोध,मोह आदि–– का प्रादुर्भाव इसी से होता है। ।

जबतक इस दुष्ट–अहंकार से आत्मा का सम्बन्ध तबतक उससे विपरीत लक्षणवाली मुक्ति की बात को लेशमात्र भी नहीं समझा जा सकता है। ।

अत्यंत भ्रान्तिपूर्ण तमोगुणी बुद्धि के द्वारा उत्पन्न यह भाव कि ' यह शरीर मैं हूँ ' , इसका पूर्णतया विनाश हो जाने पर ब्रह्म में सभी बाधाओं से मुक्त आत्मभाव की अनुभूति होती है। ।

ब्रह्मानंदरूपी परमधनन को अहंकाररूप महाभयंकर सर्प ने अपने सत्ता, रज,तमरूप तीन प्रचण्ड फनों से ढककर छिपा रखा है। धीर–विवेकी साधक श्रुतियों के उपदेशानुसार प्राप्त ज्ञानरूप चमचमाता हुई तलवार से इस सर्प के तीनों मस्तकों को काटकर उसका नाश करके ही, वह साधक उस परम आनंददायिनी सम्पदा (ब्रह्मानंद) का भोग करने में समर्थ हो सकता है। ।

जो अहंता–बुद्धि परिवर्तनशील है, अपनी सहज चिदानंदरूप– स्थिति को चुरानेवाली है, आत्मा के प्रतिबिम्ब को छिपानेवाली है, कर्त्तव्य में अहंकार रखनेवाली है, हमें उसे त्याग देना है। क्योंकि इसके अध्यास से ही हमें चैतन्यमूर्ति–आनंदस्वरूप–अन्तरात्मा को जन्म –मृत्यु–जरा आदि अनेक दुःखो से परिपूर्ण यह संसार–बन्धन प्राप्त हुआ है। ।

हम सदा एकरूप चैतन्यमय , सर्वव्यापी, आनन्दस्वरूप, पवित्र कीर्तिवाले, अविनाशी आत्मा हैं । हमें अहंकार के अध्यास हुए बिना किसी भी प्रकार से संसार–बन्धन की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए हम अहंकार रूपी शत्रु को विज्ञानरूपी महाखड्ग से छेदनकर , स्पष्ट रूप से प्रकट होने वाले आत्म–साम्राज्य –सुख का भोग करें। ।

गीता के 18 अध्याय त्रि षष्ठी अर्थात 6 - 6 अध्याय में तीन भाग में बांटा गया है। जिस का आधार है तत् त्वम असि है।त्वं अर्थात जीव को अपने अर्थात मैं, अहम, कामना, आसक्ति आदि का ज्ञान प्रथम छह अध्याय में, फिर तत् अर्थात प्रकृति और ब्रह्म का ज्ञान अगले छह अध्याय में और असि अर्थात जीव और ब्रह्म के संबंधों का ज्ञान अंतिम छह अध्याय में है। इसे पुनः हम आगे भी पढ़ेंगे। किंतु गीता से अध्यात्म की यात्रा बिना मनन के पूर्ण नही होती। इसलिए जो जीव अतिभौतिकवाद में लिप्त होते है, वे शीघ्र की निराश हो गीता अध्ययन छोड़ने लगते है क्योंकि इस के अध्ययन से उन्हें कोई आर्थिक लाभ नहीं दिखता।

यहां मैं वेदव्यास जी महाभारत स्वर्गारोहण के श्लोक को लिखना चाहूंगा।

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च। संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे।।

मनुष्य इस जगत में हजारों माता – पिताओ तथा सैकड़ों स्त्री पुत्रों के संयोग वियोग का अनुभव कर चुके है, करते है और करते रहेंगे।

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च। दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्।।

अज्ञानी पुरुष को प्रतिदिन हर्ष के हजारों और भय के सैकड़ों अवसर प्राप्त होते रहते है किंतु विद्वान पुरुष के मन पर उन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे। धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।

मैं दोनो हाथ ऊपर उठाकर पुकार पुकार कर कह रहा हूं, पर मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से मोक्ष तो सिद्ध होता ही है कि अर्थ और काम भी सिद्ध होते है तो भी लोग उस का सेवन क्यों नहीं करते ?

न जातु कामान्न भयान्न लोभा-द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः। नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनिथ्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।।

कामना से, भय से, लोभ से अथवा प्राण बचाने के लिए भी धर्म का त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख दुख अनित्य। इसी प्रकार जीवात्मा नित्य है और उस के बंधन हेतु अनित्य।

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थायः यः पठेत्। स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति।।

यह महाभारत का सारभूत उपदेश ' भारत सावित्री ' के नाम से प्रसिद्ध है। जो प्रतिदिन सबेरे उठकर इस का पाठ करता है, वह संपूर्ण महाभारत के अध्ययन का फल पाकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

मेरा निजी विश्वास है कि गीता पूर्णतयः व्यवहारिक ज्ञान है जो संसार में जीवन व्यापन्न से ले कर मोक्ष तक मार्ग तय करता है। इसलिए हमे अपनी कामनाओं, आसक्ति, मोह, लोभ, भय और अहम को त्यागने के परमात्मा के सेवक की भांति निष्काम भाव का कर्म योगी होना होगा। इस को होने के लिए सर्वप्रथम सत्य को स्वीकार करे, जीतने भी अनित्य झूठ को पकड़ कर बैठे है, उन्हे त्याग कर एक एक सत्य को पकड़े। झूठ का सहारा ले कर ही मोह, ममता और लोभ में काम करते है किंतु संसार आप के झूठ पर नही चल रहा। यह पहले भी चल रहा था और आप के रहने और नही रहने के बाद भी चलता रहेगा। भगवान श्री कृष्ण, भगवान राम और जनक जैसे कर्मयोगी जिन्होंने राज्य भी किया और मुक्त भी रहे। फिर आगे अपना गीता अध्ययन शुरू रखते है।

।। हरि ॐ तत् सत ।। विशेष 5. 29 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ अध्यायः ५ सारांश॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसांख्ययोगो नाम पंचमोऽध्यायः॥

*||ōṃ tatsaditi śrīmadbhagavadgītāsūpaniṣatsu brahmavidyāyāṃ yōgaśāstrē

śrīkṛṣṇārjunasaṃvādē karmasannyāsayōgō nāma pañcamō'dhyāyaḥ||*

भावार्थ :

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण– अर्जुन संवाद में कर्मसांख्य– योग नाम का पाँचवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ॥

Meaning:

Thus ends the fifth chapter named Sannyasa- yōga in SrimadbhagavadGītā which is the essence of the Upanishads, which deals with Brahman- knowledge as well as the preparatory disciplines, and which is in the form of a dialogue between Lord Krishna and Arjuna.

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

Summary of Bhagvad Gita Chapter 5:

The fifth chapter titled "Karma Sanyaasa Yoga" began with Arjuna's question to Shri Krishna. The question was : what was better, renouncing all actions and becoming a monk, or performing actions as a karma yogi? Shri Krishna addressed this question by reiterating a nuance that Arjuna had missed.

Renouncing of actions did not mean giving up the physical performance of actions, it meant renouncing the sense of doership, the sense that "I am doing something". In order to get to this stage, one has to have purified one's mind completely of desires. In that regards, performing actions in the spirit of karmayoga was the correct course of action for Arjuna, since he still harboured desires. As one continues to dedicate the result of actions to Ishvara, one's sense of enjoyership and doership automatically diminishes.

Next, Shri Krishna expounded upon the vision of realized seeker. He provided a detailed illustration of body, mind and intellect functioning on their own, including the acts of perception, cognition and intellect's response to stimuli. All these acts in reality happen without the involvement of "I". The illustration that the "I" resides in a city of nine gates was given to further drive home the point.

Another aspect of the realized seeker's vision is his "sama drishti" or the sameness of vision. The realized seeker sees the same eternal essence in a human, elephant, dog, dog eater. Not only that, he also sees the same eternal essence in positive and negative experiences.

He holds the convictions that these "defects" or modifications are part of prakriti. He does not view these defects as part of the eternal essence since the eternal essence is ever perfect.

Then Shri Krishna explained that just like the eternal essence in the body does not cause action, so too does the eternal essence at the cosmic level not cause action. Neither does the eternal essence connect results to actions, nor does it dole out sin and merit. All these transaction happen inside prakriti or nature. The example of the Pac Man video game was given in order to illustrate that prakriti is an automated system that works just like a video game. It rewards and punishes actions based on well-defined rules, without the need for external intervention.

In the closing shlokas of the fifth chapter, Shri Krishna slowly begins pointing us toward meditation. Meditation is the only way for the seeker to get fully established in the eternal essence. The primary goal has to be the realization of eternal essence and nothing else, this thirst is needed. Next, Shri Krishna informs us that it is the sense contacts that are obstacles to meditation. Our mind rushes our due to the urges generated desire and anger. Only by controlling this urge can we progress towards meditation.

Lastly, Shri Krishna elaborates on the state of a liberated seeker. Such a seeker has discovered the infinite joy within himself. He finds no need to rush outside into the world for joy and bliss.

।। हिंदी समीक्षा- सारांश ५ ।।

पांचवे अध्याय का प्रारम्भ अर्जुन की दुविधा से होता है जिस में उस की युद्ध नहीं करने की इच्छा झलकती है। वो कर्मयोग एवम सांख्य योग में क्या श्रेष्ठ है, प्रश्न करते है। किंतु अभी भी वो सांख्य योग से युद्ध किये बिना परमतत्व को प्राप्त करने की आशा रखते है।

अतः यहां भगवान स्पष्ट करते है कर्मयोग एवम सांख्य योग एक ही मंजिल के दो रास्ते है किंतु कर्मयोग सरल एवम ग्राह्य है अतः कर्मयोग श्रेष्ठ है। भगवान यहां यह भी स्पष्ट करते है पूर्णतयः कर्म का त्याग असंभव है, इसलिये कर्म के कर्ता और भोक्ता भाव का त्याग करना चाहिए।

मोक्ष के दो मार्ग प्रवृति एवम निवृति में मनुष्य को अपने काम एवम क्रोध के वेग को नियंत्रित करना होता है, जिस से वह कामना एवम आसक्ति से मुक्त हो। कर्म में इच्छा या कामना की सहज गति होती है, जिस को प्रारब्ध एवम संचित कर्मफल के द्वारा जीव को कर्म के लिये प्रकृति बाध्य करती है। निष्काम कर्मयोग से यह वेग सांख्य योग की अपेक्षा अधिक सरलता से किया जा सकता है। सांख्य योग में कर्म के निषेध से यह कार्य किया जाता है जो सदाहरण जीव से कठिनतम एवम दुष्कर है। कामना एवम आसक्ति के त्याग से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः दोनो मार्ग एक ही लक्ष्य तक पहुचने के दो मार्ग है। इस मे निष्काम कर्मयोग सहज होने से सभी के लिये सुलभ एवम श्रेष्ठ है।

ज्ञान से प्राप्त जीव में जब अहम भी समाप्त हो जाता है जो ब्रह्म और जीव का द्वैत भाव नष्ट हो जाता है और जीव एवम ब्रह्म अद्वैत स्वरूप में एकाकार हो जाते है। जीव को जीवत अवस्था मे ही पूर्णब्रह्म की अवस्था हो जाती है जिसे ब्रह्मसन्ध कहा गया है।

हमने पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त जीव के लक्षणों को जाना। इस स्थान को प्राप्त करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता रहती है। ज्ञान प्राप्ति से अहम,कृतर्त्व भाव, भोक्तत्व भाव को समाप्त होना चाहिए। आत्मा साक्षी मात्र है और देह से की गई समस्त क्रियाए प्राकृतिक है।

पूर्ण ब्रह्म को प्राप्त जीव ब्रह्मसंस्थ कहा जाता है। ब्रह्मसंस्थ प्राणी में समत्व भाव रहता है, वो हर प्राणी में परमात्मा और सिर्फ परमात्मा को देखता है। उस ने काम क्रोध को समाप्त कर दिया है। उस के ब्राह्मण, शुद्र, पशु सभी समान है।

भगवान यह भी स्पष्ट करते है अज्ञानी लोग ही कर्म योग एवम सांख्य योग में भेद करते है। भगवान को हर काम के लिए जिम्मेदार मानते है जब कि वो मात्र साक्षी है। जो कुछ होता है वो प्रकृति जन्य है वो कुछ भी नही करता।

ब्रह्मसन्ध स्वरूप जीव के जिन गुणों का वर्णन इस अध्याय में किया गया है, वह हम संसार मे उच्च शिखर में पहुचे लोगो मे अक्सर देखते है। व्यवहारिक दृष्टिकोण से यदि उच्चतम शिखर में पहुचे व्यक्ति के गुण का विवेचन करे तो हमे इन्ही गुणों के अधिकतम गुण उस व्यक्ति में मिलेंगे। यह गुण निम्न प्रकार से है।

1. परमात्मा स्वरूप में दृढ़ निष्ठा

2. समभाव

3. स्थितप्रज्ञ

4. अंतःकरण में रमण एवम आनन्द लेना

5. बाह्य जगत के सुख या इन्द्रीयजनित सुखों में कोई कामना या रुचि या आसक्ति न रखना

6. काम एवम क्रोध में नियंत्रण

7. यतात्मानः

8. क्षीणकल्मषाः

9. छिन्नद्वैधा

10. सर्वभूतहिते रताः

11. संशय रहित

12. शांतचित्त

हमे यह भी समझ लेना चाहिए कि सन्यास का अर्थ केवल गेरूवे वस्त्र पहन कर घर त्याग कर जंगलों में घूमना नही है। सन्यास का अर्थ उपरोक्त गुणों से युक्त हो कर जीवन व्यतीत करना है। इसे गृहस्थ से ले कर कोई भी कर्मयोगी कर सकता है। इस के लिए व्याध गीता में कसाई द्वारा साधु को ज्ञान दे कर भी अधिक स्पष्ट किया गया है। जिसे हम पहले पढ़ चुके है।

कार्य–कारण एवम प्रकृति के नियमानुसार हर व्यक्ति अपने कर्मो को प्राप्त करता है। जो जैसा है उसे वैसा ही फल प्राप्त होगा।

कर्मयोग को श्रेष्ठ बताने का कारण भी स्पष्ट है क्योंकि अच्छे गुण की मात्र शुरुवात करनी पड़ती है। यदि सेवा जैसा एक भी गुण अपना ले तो आत्मोउन्नति हमे कृतर्त्व भाव से मुक्त करने लगेगी। हम स्वतः ही ब्रह्म की ओर बढ़ने लगते है और कर्मयोगी हो कर धीरे धीरे निष्काम हो कर उस परमात्मा हो हर जीव में देखने लगे जाते है। ब्रह्मसंस्थ कोई विद्या नही वरन स्थिति है जो निष्काम एवम ज्ञान द्वारा कर्म करते करते प्राप्त हो जाती है। जरूरत एक छोटे से छोटे से शुरुवात की है। यदि हम सिर्फ इतना ही विचार कर ले कि हम किसी का बुरा नही करेंगे, बुरा नहीं सोचेंगे एवम क्रोध नही करेंगे तो भी आप के अंदर मूलभूत तत्व प्रवेश कर लेंगे। आलस्य एवम प्रमाद को त्याग कर ही आप को इस का पालन करना है तो आप की यात्रा तत्वदर्शन की ओर शुरू हो जाएगी।

LLM, CA या डॉक्टर की पढ़ाई की शुरुवात nursery से ही होती है या ऐसे कहे की की बोलना ओर वस्तु को पहचानना हम घर मे माँ से सीखते है। कृष्ण भगवान ने अर्जुन को युद्ध करने को कहा था, अर्जुन को कृष्ण पर पूरा विस्वास था किंतु वो कोई संशय के साथ किसी भी कार्य को नही कर सकता अतः वो अपने संशय का निवारण कर रहा है। संशय ही ज्ञान मार्ग का सब से बड़ा बाधक है इस लिए इस को ले कर कभी भी किया हुआ कार्य सफल नही होता। बुद्धि के विकास के लिये ज्ञान की प्राप्ति संशय रहित हो कर ही करनी चाहिए।

ब्रह्म यानि मोक्ष प्राप्ति की शुरुवात भी निष्काम भाव से सेवा कर्म से होती है। यह हमारे ही सोचने का विषय है कि हमारी लालसा एवम कामना हमे किस दिशा में ले जा रही है। जो हम आज नहीं कर पा रहे है वो कल कर पाएंगे यह सुनिश्चित नही है किंतु सुखबुद्धि से हम अपने कर्मो के फल अवश्य इक्कठा कर रहे है जिसे परमात्मा कब कहाँ , कैसे और किस रूप एवम किस प्रकार में लौटाएगा यह नही मालूम, परंतु कर्मो की प्राप्ति अवश्य ही है।

किसी भी धर्म में बहुदा फल की प्राप्ति जीव के शरीर त्याग के बाद अच्छे लोक या अच्छे जन्म के रूप में दी जाती है, जो किसी ने भी नही देखा। गीता में भगवान श्री कृष्ण क्रोध और कामना के वेग को संभालने वाले, राग – द्वेष से परे जीव को परम आनंद इसी जन्म में प्राप्त होने का परिणाम देते है। इसे दृष्टा विश्वास जो आप न केवल आप देख सको, वरन उस स्थिति को प्राप्त हो कर शेष जीवन व्यतीत कर सको। ऐसा शायद ही कोई भी धर्म, मत या संप्रदाय हिंदू धर्म के अतिरिक्त बता सकता हो। फिर पुनर्जन्म से मुक्ति की बात भी है।

ब्रह्मसंस्थ एवम समत्व भाव एक स्थिति है जो प्राणी विशेष के आचरण, व्यवहार एवम क्रिया से प्रकट होती है किन्तु कोई भी अपने ब्रह्मसंस्थ या समत्व भाव होने की घोषणा नहीं कर सकता क्योंकि यदि वो ऐसा करता है वो परमतत्व को प्राप्त नहीं है, उस का अहम उस की घोषणा में है।

निष्काम कर्म योग हो या सांख्य योग, जब तक मनोचित्त शुद्धि या आत्म शुद्धि न हो, ज्ञान का प्रादुर्भाव नही हो सकता। केवल अध्ययन, श्रुति या सेवा से ज्ञान नही प्राप्त होता, इस के लिये आत्म शुद्धि एवम आत्म ज्ञान होना आवश्यक है। प्रकृति अपनी इन्द्रियों से जीव को बाह्य जगत को दिखाती है एवम मोह, लोभ, कामना एवम आसक्ति से उस मे कर्तृत्त्व एवम भोक्तत्व भाव उत्पन्न करती है। ब्रह्म स्वरूप जीव जब तक अपने स्वरूप को नही देख पाता, उसे आत्मज्ञान नही होगा। इसलिये अध्याय के अंत मे जीव को अपने स्वरूप को पहचानना भर है। आईने की धूल हटानी है। वह नित्य, साक्षी एवम अकर्ता है, इस पर भ्रम का पर्दा हटाना है। इस के ध्यान की आवश्यकता है।

जीव को कुछ प्राप्त नही करना होता, उस को अपने अज्ञान को ही समाप्त करना है। ज्ञान के ऊपर अज्ञान की परत होने से ज्ञान छुप गया है। ज्ञान प्राप्त नही किया जाना है, वह तो जीव स्वयं है ही, बस उस अज्ञान को मिटाना है। अध्याय का अंत ध्यान योग द्वारा भी समत्व प्राप्त करने की विधि द्वारा किया गया है जिसे अगले अध्याय में हम पढ़ेंगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 5- सारांश ।।